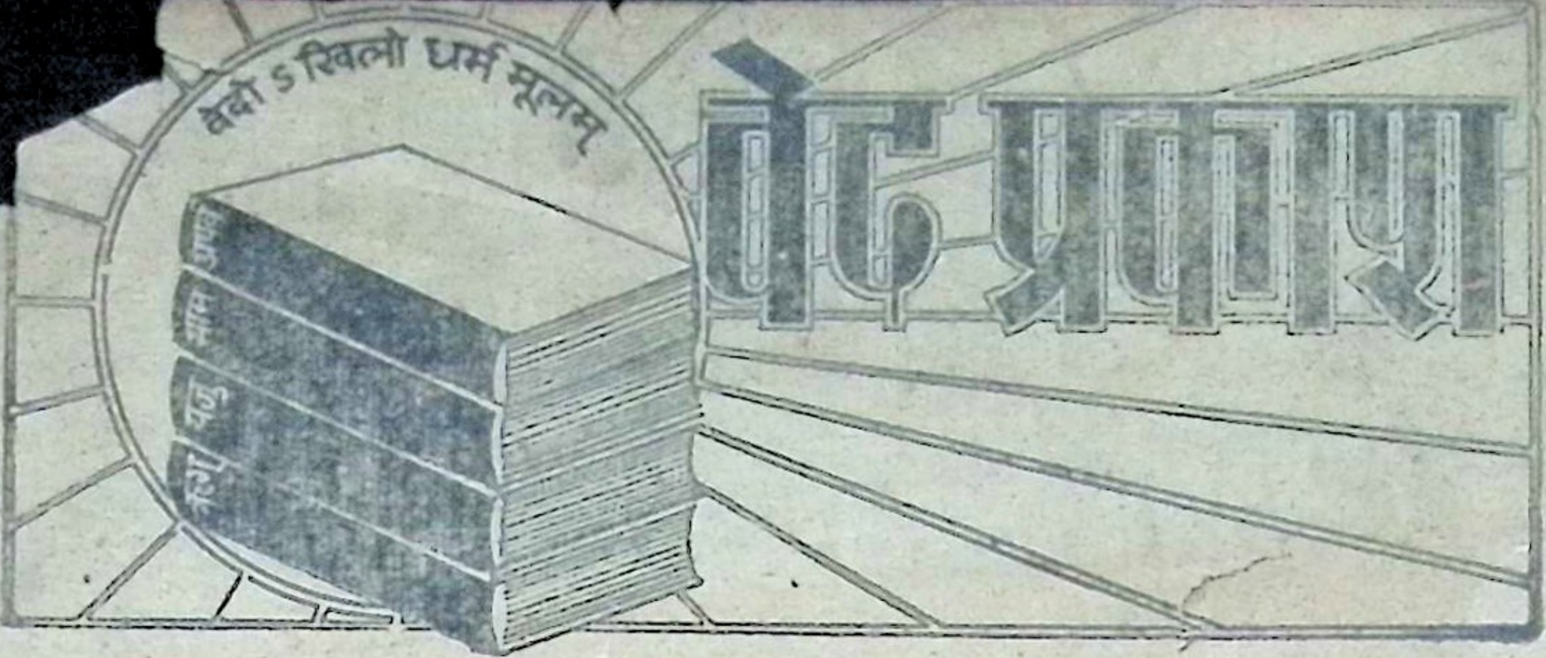

पुनर्जन्म

अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा ।

यदा त्वं प्राण जिन्वस्यथ स जायते पुनः ।। अथर्व० ११।४।१४

(पुरुषः) जीव (गर्भे अन्तरा) गर्भ में (प्राणति) श्वास लेता है और (अपानति) उच्छ्वास लेता है। हे (प्राण) प्राणप्रद जीवनाधार प्रभो ! (यदा त्वं जिन्वसि) जब तू अनुमति देता है, (अथ) तब (सः पुनः जायते) यह पुनर्जन्म लेता है। 'पुनः जायते' का अर्थ 'पुनर्जन्म लेता है' के अतिरिक्त और कोई हो ही नहीं सकता। यदि कोई कहे कि यहाँ गर्भ से बाहर आने को कहने के लिए 'पुनः' शब्द है, तो वह भूल में है, क्योंकि इसका वाचक 'अथ' शब्द मन्त्र में है। मन्त्र के पहले भाग का तात्पर्य है कि प्राणी गर्भ में भी श्वास-प्रश्वास किया करता है।

पुनर्मनः पुनरायुर्म ऽआगन्पुनः प्राणः पुनरात्मा म ऽआगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म ऽआगन् । वैश्वानरो ऽ अदब्धस्तनूपा ऽ अग्निर्नः पातु दुरितावद्यात् ।। —यजु० ४।१५

(मे) मुझे (मनः पुनः आगन्) मन फिर से प्राप्त हुआ है, (प्राणः पुनः) प्राण भी फिर से मिला है, (चक्षुः पुनः) आँख भी नूतन ही मिली है, (श्रोत्रं मे पुनः आगन्) कान भी मुझे फिर से मिले हैं, (आत्मा मे पुनः आगन्) शरीर भी मुझे नया ही मिला है, अतएव (मे पुनः आयुः आगन्) मेरा पुनर्जन्म हुआ है। (वैश्वानरः) सर्वजनहितकारी (अदब्धः) परम बलधारी (तनूपाः) सर्वशरीर-रक्षाकारी, समस्त दुरितसंहारी, भवभयहारी भगवान् (दुरितात् अवद्यात्) दुरित=दुर्गति और अवद्य=निन्दा से अथवा दुराचार तथा पाप से (नः पातु) हमारी रक्षा करें।

महाशोक

आचार्य उदयवीर शास्त्री का १७ जनवरी १९९१ को अजमेर में देहावसान हो गया। वे अपनी पुत्री के यहाँ (८७-ए, मधुवन कालोनी, नाका मदार अजमेर) पिछले पाँच-छः वर्षों से रह रहे थे। —सम्पादक

विद्याभास्कर, वेदरत्न, न्याय-वैशेषिक सांख्य-योग्य तीर्थ,
वेदान्ताचार्य, शास्त्रशेवधि

आचार्य उदयवीर शास्त्री ग्रन्थावली

(पृष्ठ संख्या ७००० के लगभग डिमाई आकार में)

ग्रन्थावली में सम्मिलित ग्यारह ग्रन्थ

१९९० में प्रकाशित

१.	न्याय दर्शन भाष्य	१५०-००
२.	वैशेषिक दर्शन भाष्य	१२५-००
३.	सांख्य दर्शन भाष्य	१००-००
४.	योग दर्शन भाष्य	१००-००
५.	वेदान्त दर्शन भाष्य (ब्रह्मसूत्र)	१८०-००

१९९१ में प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ

६. सांख्य दर्शन का इतिहास
७. सांख्य सिद्धान्त
८. वेदान्त दर्शन का इतिहास
९. मीमांसा दर्शन का विद्योदय भाष्य (तृतीय अध्याय तक)
१०. प्राचीन सांख्य सन्दर्भ
११. वीर तरंगिणी (लेखों का संग्रह)

सम्पूर्ण ग्रन्थावली के ग्यारह खण्डों का मूल्य २०००.००

पाठकों से सम्मति

आपके इस ग्रन्थावली को सम्पूर्णतया प्रकाशित करने के लिये भूरिशः धन्यवाद है। आर्यसमाज के प्रकाशकों में इतना बड़ा कार्य आपसे भिन्न अन्य कोई व्यक्ति नहीं कर सकता है। आपने अच्छा कार्य करके आचार्यवर पं० उदयवीर शास्त्रीजी की कीर्ति और उनके पाण्डित्य और वैदुष्य को प्रसारित करने में भारी श्रम और श्रद्धा का परिचय दिया है। अतः आप साधुवादायी हैं। —**जयदत्त शास्त्री** आर्यसमाज अलमोड़ा

गोविन्दराम हासानन्द, ४४०८ नई सड़क, दिल्ली-११०००६

॥ ओ३म् ॥

वेदप्रकाश

संस्थापक : स्वर्गीय श्री गोविन्दराम हासानन्द

वर्ष ४०, अंक ७] वार्षिक मूल्य : बीस रुपये [फरवरी १९९१

सम्पा० : विजयकुमार आ० सम्पादक : स्वा० जगदीश्वरानन्द सरस्वती

जन्म-मरण की उलझन

—प्रा० भद्रसेन, वेद-दर्शनाचार्य

पूर्वपीठिका—

यह एक पंजाब का प्रसिद्ध नगर है, जिसके नाम से सभी परिचित हैं, जो कि एक औद्योगिक और व्यापारिक केन्द्र है। आज यह नगर पंजाब का हृदय बनकर इस प्रान्त के साथ सारे देश के जीवन का आकर्षण सिद्ध हो रहा है। इससे कुछ दूरी पर पंजाब की एक प्रसिद्ध और प्राचीन नदी बहती है। इस नदी और नगर के मध्य में मुख्य राज-मार्ग से कुछ हटकर एक मनोरम आश्रम के चारों ओर गुलाब के पौधों की बाढ़ है। उसके आस-पास प्रदेश में उग सकने योग्य एक सौ के लगभग फलवाले वृक्ष हैं। वृक्षों से आगे छोटी-छोटी क्यारियाँ हैं, जिनमें मौसम के अनुसार सब्जियाँ उगाई जाती हैं। इन क्यारियों के मध्य में एक खुला प्रांगण है। इस प्रांगण से चारों ओर कच्चे रास्ते निकलते हैं, जो कि मुख्य द्वारों से जुड़े हुए हैं। इन मार्गों के दोनों ओर एक-एक फुट-भर की फूलों की क्यारियाँ हैं। इनमें से एक मार्ग के एक ओर चमेली के पौधे हैं, तो एक मार्ग के एक ओर चम्पा, तो तीसरे में रजनीगन्धा तथा चौथे मार्ग के साथ गुलाब के पौधे हैं। इन मार्गों के दूसरी ओर ऋतु-ऋतु के अनुरूप फूलों के पौधे हैं, जो कि अपने सुमनों से सदा सभी को सुवासित करते रहते हैं।

मध्यवर्ती मैदान के एक ओर चार कमरे हैं, जिनके आगे बरामदे

वने हुए हैं। एक कमरे में इस आश्रम के संचालक रहते हैं, तो दूसरे में प्रवन्ध सहायक ज्ञानप्रिय जी का आवास है। तीसरे में चिकित्सक श्री धन्वन्तरि जी रहते हैं और चौथा कमरा दूसरे कमरों से पर्याप्त बड़ा है, जिसमें एक सुन्दर पुस्तकालय एवं वाचनालय है। इन कमरों से कुछ दूर मुख्य द्वार के साथ एक धर्मार्थ औषधालय वना हुआ है, जहाँ समीपवर्ती क्षेत्र के रोगी धन्वन्तरि जी की सेवाओं का लाभ उठाते हैं। इसी औषधालय के साथ ही एक वड़ा बरामदा है, जिसके बैंचों पर रोगी एवं उनके साथी अपनी बारी की प्रतीक्षा करते हैं। इसी मुख्य द्वार के सामने एक सम्पर्क-सड़क है, जो कि अनेक ग्रामों को मुख्य राजमार्ग से जोड़ती है। इस मुख्य द्वार के दूसरी ओर यदा-कदा रात काटने के लिए आनेवालों का विश्राम-स्थल है, तथा इसके साथ ही विद्युत्-कूप है, जिससे यहाँ के जल की जरूरत पूरी होती है। इसके साथ ही दो फ्लश के शौचालय और स्नानागार हैं। यह **सेवाश्रम** अधिकतर स्वावलम्बी है।

इस आश्रम के संचालक का नाम सर्वप्रिय है। ये एक भूतपूर्व इंजीनियर तथा एक बड़े औद्योगिक केन्द्र के भागीदार थे। इंजीनियरिंग का प्रशिक्षण प्राप्त करके जब ये स्नातक बने, तब देश को स्वतन्त्र हुए अभी एक वर्ष ही हुआ था। सर्वप्रिय जी जहाँ अपनी पढ़ाई में पटु, तकनीकि में विशेष रुचि रखते थे, वहाँ खेलों के अच्छे खिलाड़ी और अपने नाम के अनुरूप वहुत ही मिलनसार थे। स्नातक होने के पश्चात् आपने अपने कुछ साथियों के साथ मिलकर एक उद्योग लगाया। यह उद्योग इन साथियों के सद्भाव और सहयोग के कारण इतना अधिक सफल हुआ कि आज केवल भारत में ही नहीं, विदेशों में भी इसका उत्पादन सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। यह उद्योग आज अनेक उपकेन्द्रों में बँटा हुआ है और यहाँ कम-से-कम बीस वस्तुओं का उत्पादन होता है।

सर्वप्रिय जी अपनी लगन, कार्य-कुशलता, प्रबन्ध की प्रवीणता के कारण जहाँ अपने भागीदारों में सदा प्रिय वन्धु सिद्ध हुए, वहाँ उद्योग के कर्मचारियों के भी सफल हितैषी वने। जब इस उद्योग के पैर जमने लगे, तब सर्वप्रिय जी ने अपने भागीदारों और कर्मचारियों के साथ मिलकर एक सर्वसम्मत निर्णय लिया कि जो भी लाभांश (बोनस) होगा, उसको व्यक्तिगत रूप में न बाँटकर सभी के लाभ के लिए साभूहिक रूप में व्यय किया जाएगा। इसी लाभांश से क्रमशः आवास-कालोनी, शिक्षा-केन्द्र, आधुनिक चिकित्सा की सुविधाओं से सम्पन्न चिकित्सालय तथा जंजघर आदि वनाये गए। जैसे-जैसे औद्योगिक केन्द्र

का प्रसार होता गया और भागीदारों के पुत्र कार्य को सँभालने लगे, वैसे-वैसे सर्वप्रिय जी कर्मचारियों के कल्याण और सुख-दुःख में अधिक रुचि लेने लगे। यहाँ तक कि यदि किसी कर्मिष्ठ के परिवार का कोई सदस्य रुग्ण होता, तो स्वयं हाल-चाल पूछने के लिए जाते और उनकी हर खुशी-गमी में सम्मिलित होते। इसके परिणामस्वरूप कर्मचारी भी इन्हें अपना हितैषी मानते तथा औद्योगिक केन्द्र को अपना समझकर यथाशक्ति कार्य करते।

अपने भागीदारों और कर्मचारियों के किसी भी बन्धु की मृत्यु पर सर्वप्रिय जी उसमें अवश्य ही सम्मिलित होते। इस परिवार के पर्याप्त विशाल होने के कारण अकस्मात् मौत की कुछ ऐसी घटनायें हुई कि इनके मन में अनेक तरह की जिज्ञासाएँ उभरीं। इनकी शान्ति के लिए सर्वप्रिय जी ने इस विषय पर कुछ विशेष अध्ययन किया। स्वाध्याय करते हुए सर्वप्रिय जी ने अनुभव किया कि हमारे जीवन में अनेक बार ऐसी घटनाएँ होती हैं, जिनके बारे में जब हम सोचते हैं कि यह बात कैसे हुई, तब सोचते-सोचते कुछ बातों का तो हमें पता चल जाता है कि यह घटना इस प्रकार से घटी है, पर बहुत सारी बातें हमारे जीवन में ऐसी भी घटती हैं, जिनके सम्बन्ध में बार-बार सोचने पर भी हमें कुछ समझ नहीं आता कि यह कैसे हो गया ? इन बातों पर हम जितना भी सोचते हैं, उतना ही अधिक ऐसा लगता है कि हम और भी अधिक उलझन में उलझ गए हैं। एक के बाद एक प्रश्न उभरता है जिसका हल हमारे दिमाग में सूझता नहीं। इसीलिए सर्वप्रिय जी ने ऐसे कुछ विशेष अवसरों पर साधु-महात्माओं को बुलाकर सत्संग कराये। अपने परिवार के साथ जहाँ स्वयं इनका लाभ उठाया, वहाँ अपने भागीदारों और कर्मचारियों को भी लाभान्वित होने का अवसर दिलवाया। इन सत्संगों के सहयोग से इन्होंने अपने स्वाध्याय और विचारों को एक विशेष दिशा दी।

सर्वप्रिय जी का प्रथम पौत्र जब अपने विषय का विशेषज्ञ बनकर आया, तो इन्होंने अपने पुत्र को लोक-सम्पर्क और कर्मचारियों के कल्याण का कार्य सौंप दिया, स्वयं इससे मुक्ति ले ली। इस औद्योगिक केन्द्र और कर्मचारियों के कल्याण-कार्यों के कारण नगर तथा आस-पास के क्षेत्र के लोग इनसे परिचित थे ही। इन्होंने अपने परिचितों में से कुछ सेवाभावियों के साथ मिलकर सेवाश्रम की योजना बनाई और पारस्परिक सहयोग से यह सारा कार्य प्रारम्भ हो गया। जैसे-जैसे आश्रम की चर्चा चली, वैसे-वैसे अनेक सेवाभावी सामने आए। एक

कार्य-मुक्त चिकित्सक ने सर्वप्रथम अपनी सेवा दी और प्रतिदिन १० से १ बजे तक सेवाश्रम के धर्मार्थ औषधालय में कार्य करते और शेष समय आश्रम में ही रहकर साधना, स्वाध्याय और सत्संग का लाभ उठाते। सर्वप्रिय और चिकित्सक सेवाप्रिय 'धन्वन्तरि' की लगन को देखकर समीप के एक कृषक कर्मप्रिय ने यहाँ की वाटिका एवं खेती का कार्य सँभाला। इन सबकी परोपकार की प्रवृत्ति से प्रभावित होकर ज्ञानप्रिय ने यहाँ के पुस्तकालय और वाचनालय का कार्य सँभाला। सर्वप्रिय जी प्रतिदिन अपने ध्यान और स्वाध्याय के पश्चात् नियमित रूप से आश्रम के सभी कार्यों में सहयोग देते। सबके साथ मिलकर आश्रम की सफाई, खेती, औषधालय और अन्य अपेक्षित कार्यों को करते।

सेवाश्रम की स्थापना का प्रथम वर्ष पूर्ण होने पर यहाँ रविवार को सायंकाल के समय सत्संग का कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया। यदा-कदा अनेक विद्वान्, साधु, महात्मा भी इस आश्रम में पधारते रहते। एक वर्ष तक प्राय: वे आमन्त्रित ही कथा का कार्यक्रम चलाते रहे; हाँ, कभी-कभार सर्वप्रिय जी इस कार्य को सम्पन्न करते। सत्संग से पूर्व सदा संगीतप्रिय जी दो मधुर गीत रखते, जिन्होंने अपने कार्य से मुक्त होने के बाद यहीं नगर में अपना संगीत विद्यालय प्रारम्भ कर रखा था। सर्वप्रिय जी की परोपकारिता से प्रभावित होकर उन्होंने इस सेवा का स्वयं उत्तरदायित्व स्वीकार किया। सर्वप्रिय जी का अधिकतर जीवन काफी समय से 'सादा जीवन, उच्च विचार' का ज्वलन्त मूर्तरूप था, एवं जन-सेवा में अर्पित था। सेवाश्रम में आ जाने पर तो सभी उनको महात्मा जी के नाम से ही पुकारते थे। साधना, स्वाध्याय और सेवा के द्वारा वे वस्तुतः महात्मपन के रूप को चरितार्थ करते थे। सर्वप्रिय जी अपने वैयक्तिक जीवन के उत्थान के लिए जहाँ साधना-स्वाध्याय में निरत रहते, वहाँ शुभकर्मों के संचय के लिए आश्रम के कार्यों में भी सहयोग देते।

पहली बैठक

एक दिन सत्संग प्रारम्भ करते हुए महात्मा जी ने कहा—अभी कुछ देर पहले मेरे पास कुछ विद्यार्थी आए और उन्होंने एक दुःखद घटना की चर्चा की। उनमें से एक छात्र ने बताया कि उनके एक साथी के पिताजी का जगराँवा से वापस आने पर घर में परस्पर बातचीत करते-करते

अचानक देहान्त हो गया। हमारा साथी 'संवेदन' बड़ा ही हँसमुख, मिलनसार, सेवाभावी, पढ़ाई में प्रवीण, सहयोगी और अच्छा खिलाड़ी है। इस दु:खद घटना के कारण इसमें पर्याप्त परिवर्तन आ गया है; सारा दिन गुम-सुम रहता है। कभी-कभार इस दुर्घटना के बारे में दो-चार प्रश्न पूछता है, और कई बार ऐसे-ऐसे प्रश्न पूछता है जो हम सबके लिए भी अचरज-भरे होते हैं। इनके घर में इसके सामने यह पहली घटना होने से बड़ी हैरानी से कल कह रहा था—लोग कहते हैं मेरे पिताजी मर गए; कुछ देर पहले हम सबसे बातें कर रहे थे, साथ-साथ पत्र भी देख रहे थे। इतने में कुछ पड़ोसी आए, उन्होंने उनसे जगरांवा के निन्दनीय, जघन्य हत्याकाण्ड की जानकारी ली। तब बातचीत में एक को बताया कि इससे पहले के हत्याकाण्डों की स्याही अभी सूखी ही नहीं थी कि शस्त्रधारियों ने कारों में जाते हुए आठ निहत्थे निर्दोषों की दिन में ही अन्धाधुन्ध गोलियाँ चलाकर हत्या कर दी और अपने-आपको बहादुर समझनेवाले एकदम दुम दबाकर वहाँ से भाग गए। यह चर्चा चल ही रही थी कि संवेदन के पिताजी जगरांवा की मण्डी में एकसाथ जलती आठ चिताओं और विह्वल लोगों का वर्णन करते-करते एकदम लेट गए। उनकी परिस्थिति को पहचानते ही डॉक्टर को बुलाया गया। उसने परीक्षण के पश्चात् इंजेक्शन लगाया, दवा दी, अन्य बहुत सारे प्रयास किए, पर फिर बार-बार बुलाने पर भी पिताजी नहीं बोले, आँखें बन्द-की-बन्द ही रह गईं। एकदम न जाने यह क्या हो गया ?

आज के सत्संग में वे सारे विद्यार्थी मेरे सामने ही बैठे हैं। इसलिए आज किसी और बात की चर्चा न करके इसी के सम्बन्ध में कुछ चर्चा होगी। सबसे पहले संवेदन की बदली हुई स्थिति पर ही कुछ विचार करते हैं कि यह परिवर्तन क्यों आ गया ?

हम जिस देश में रह रहे हैं, वहाँ सर्दी-गर्मी-वर्षा के रूप में तीन स्पष्ट ऋतुएँ आती हैं, जिनका जीवित प्राणियों पर जहाँ प्रभाव होता है और उनके खान-पान, रहन-सहन और वस्त्रों में भी इससे एकदम अन्तर आ जाता है, वहाँ बे-जान चीजें भी उस-उस ऋतु के अनुसार ठण्डी, गर्म एवं आर्द्र हो जाती हैं। जब एक विचारशील इस पर विचार करता है, तो इसके सूर्य-चन्द्र-पृथिवी की गति और प्रदेश-भेद आदि कारण सामने आते हैं। इसी प्रकार हमारे चारों ओर कुछ ऐसी घटनाएँ होती हैं, जिनका उनके अनुरूप हमारे जीवन और व्यवहार पर थोड़ा या ज्यादा प्रभाव होता है। इनसे प्रभावित होकर अनेक स्वाभाविक रूप से उसकी कारण-परम्परा को खोजने पर विवश हो जाते हैं। तब

एक के बाद एक ऐसी जानने की इच्छा उभरती है कि जो कुछ हाथ लगने पर ही शान्त होती है। जैसेकि इस युवक, परिवार और परिचितों के लिए एक यह घटना भी है, जिसके कारण कुछ तो एकदम हतप्रभ हो जाते हैं, और किसी विचारशील के मन में एक के बाद एक प्रश्न उठता है। तब उनका हल खोजने के लिए उसका मन दौड़ लगाता है। तभी तो संवेदन अपने साथियों से अनेक तरह के प्रश्न पूछता रहता है। आइए ! उन प्रश्नों पर क्रमश: कुछ विचार करें और इनमें से सबसे पहले **जीवन की कहानी** को लेते हैं।

जिस संसार में हम रह रहे हैं, वहाँ बहुत सारी चीजें बनती हुई स्पष्ट दिखाई देती हैं। जैसे कि हम किसी मकान को बनते हुए देखते हैं, ऐसे ही कहीं फर्नीचर को और किसी कारखाने में कुछ तो कहीं कुछ बनते हुए देखते हैं। एक विचारशील जब अपने चारों ओर की इन बननेवाली चीजों पर विचार करता है, तो धीरे-धीरे उसको इन चीजों की कहानी कुछ-कुछ समझ आने लगती है। वह देखता है कि बनानेवाला कुछ चीजें लेता है और उनके मेल से किसी चीज को बनाता है। जैसे कि एक बढई लकड़ी, कील आदि लेता है और अपने औजारों की सहायता से लकड़ी को बननेवाली चीज के अनुरूप काट-छीलकर मेज, कुर्सी आदि के रूप में उस-उस चीज को बनाता है। ऐसे ही एक हलवाई दूध, मीठा, घी, मैदा आदि लेता है और अपनी विधि को अपनाकर औजारों की सहायता से कोई-न-कोई मिठाई बनाता है। या हम अपनी रसोई में रोटी, सब्जी आदि को बनते देखते हैं। तब हम कहते हैं, यह चीज बन गई, पैदा हो गई; और इसी का नाम जन्म है।

हमारी दुनिया में कुछ चीजें ऐसी भी हैं, जिनको हम स्पष्ट बनती हुई नहीं देखते। बनती हुई स्पष्ट दीखनेवाली वस्तुओं और जो स्पष्ट बनती हुई नहीं दीखतीं, उन सबमें एक व्यवस्था, एक नियम होता है। सारी वस्तुएँ किसी-न-किसी प्रक्रिया में बँधी हुई अपना-अपना कार्य करती हैं। जैसे कि न जाने कब से यह सूर्य प्रकाशित हो रहा है और अपनी उषा, ऊष्मा और ऊर्जा द्वारा सभी को लाभ दे रहा है। यह एक व्यवस्था में बँधा हुआ अपनी परिधि में घूमता है, तभी तो सूर्यग्रहण, सूर्य-उदय-अस्त आदि का समय विशेषज्ञ पहले ही से बता देते हैं।

बनी हुई ये सारी चीजें बर्तते-बर्तते एक-न-एक दिन घिसकर पुरानी हो जाती हैं, तब वे अपना काम करना बन्द कर देती हैं या टूट-फूट जाती हैं। जैसे कि हमारे कपड़े; ये पहनते-पहनते पुराने हो जाते हैं और फिर एक दिन फट जाते हैं। कई बार ऐसा भी होता है कि कोई नया

कपड़ा विना पुराना हुए ही खींचने से या कहीं अड़ जाने से फट जाता है। ऐसे ही मेज, कुर्सी, मकान आदि दूसरी चीजें पुरानी होकर या टक्कर, आग आदि से नष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार किसी के नष्ट होने को उसका मरना या उसकी मौत भी कहते हैं। तब बनी हुई चीज में मिले हुए हिस्से या उसमें मिली हुई चीजें अलग-अलग हो जाती हैं। किसी के वनने के दिन से पुराना होकर नष्ट होने के समय तक को किसी के **जीवन की कहानी** कह सकते हैं। इस प्रकार मकान आदि हर वस्तु जितने दिन सामान्य रूप से रह सकती है या जितने दिन रहती है, वह उसकी औसत आयु कहलाती है।

दूसरी चीजों की तरह प्राणियों के शरीर भी अपनी-अपनी प्रक्रिया के अनुसार वनते और बिगड़ते हैं। इसी जन्म-मरण की उलझन को कठोपनिषद् में भी समझाया गया है। इसीलिए किसी की मृत्यु हो जाने पर कुछ घरों में कठ-उपनिषद् की कथा होती है। इस उपनिषद् में एक आख्यान आता है कि वाजश्रवा ने एक बार सर्वमेध यज्ञ किया और उसकी दक्षिणा में बूढ़ी गायें भी दान में दीं। अनुपयोगी गौओं के दान से अनर्थ की आशंकावश नचिकेता ने पिता से पूछा, मुझे किसको दोगे? तीसरी बार पूछने पर पिता ने कहा—'मृत्यु के लिए दूंगा'। उपनिषद् के अनुसार तब नचिकेता आचार्य यम के गृह पर गया। वहाँ आचार्य की प्रतीक्षा में तीन दिन निराहार रहा। इसके प्रायश्चित्त के लिए यम ने उसे तीन वर माँगने के लिए कहा। नचिकेता ने प्रथम वर में पिता की शान्ति, द्वितीय में स्वर्ग्य अग्नि का ज्ञान माँगा तथा तृतीय में पूछा कि मृत्यु के पीछे आत्मा का अस्तित्व रहता है या नहीं? यमाचार्य ने पहले दोनों वर दे दिए, परन्तु तृतीय वर के माँगने पर कहा—यह अणु और दुर्ज्ञेय है, अतः और कुछ माँग। नचिकेता द्वारा पुनः उसी वर का ही आग्रह करने पर, विविध प्रलोभन देकर यम ने उसे टालना चाहा। नचिकेता जब अपनी बात पर दृढ़ रहा, तो यमाचार्य ने तृतीय प्रश्न का उत्तर दिया। तृतीय वर के विवेचन में वहाँ मृत्यु-सम्बन्धी अनेक रहस्यों की भी चर्चा की गई है।

इस चर्चा में मानव के जन्म-मरण की पहेली को समझाते हुए कठ-उपनिषद् के ऋषि ने कहा है—'सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः' १-१-६=जैसे फसल पकती है और फिर वे ही दाने दोबारा खेत में बोए जाने पर उग आते हैं, ठीक इस कृषि-प्रक्रिया की तरह ही मानव के जन्म-मरण की भी एक कहानी है, अर्थात् जन्म-मरण की पहेली को समझने के लिए पहले कृषि-प्रक्रिया को पहचानना बहुत जरूरी है। अतः

पाठको ! आओ, पहले कृषि की प्रक्रिया पर एक नजर डालें।

कहीं लहलहाती फसलों, बेलों, पौधों और भीनी-भीनी सुगन्ध वाले फूलों, फलों, एक-दूसरे से अधिक ऊँची गर्दन करके खड़े हुए वृक्षों को देखकर किसका मन झूम नहीं उठता ! यही खुशियाँ वैशाखी, पोंगल, वीहू आदि पर्व के रूप में यत्र-तत्र-सर्वत्र दिखाई देती हैं, क्योंकि अपने परिश्रम को फूलता-फलता देखकर कृषक-समाज नाच उठता है और ऐसा रचनात्मक कार्य करनेवाले तब स्वतः ही सबकी श्रद्धा के पात्र बन जाते हैं। ऐसी स्थिति में यह एक स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि यह सब कैसे होता है ? एतदर्थ जब हम कृषि-प्रक्रिया पर दृष्टि डालते हैं, तो स्पष्ट होता है कि—

इन लहलहाती फसलों के पीछे एक योजना है, तभी तो सबसे पहले उस-उस फसल के अनुरूप भूमि का चुनाव करके फिर हल, सुहागे आदि के माध्यम से उसकी तैयारी की जाती है। यथासमय बीज का छटाव करके उसको रोगरहित करते हैं। तब समय पर उचित ढंग से उसको बोते हैं। यथासमय खाद, सिंचाई, देखभाल और सँभाल करने पर कुछ मास बाद वायु की मन्द-मन्द लहरों से झूमती हुई फसलों के दर्शन होते हैं। कुछ फसलें वर्ष में दो-तीन बार बोई जाती हैं, तो कोई सारा साल ले लेती हैं। ये सारी बातें हम सब समय-समय पर आकाशवाणी, दूरदर्शन से सुनते या अपने चारों ओर देखते या पत्र-पत्रिकाओं में पढ़ते रहते हैं।

कृषि की यह प्रक्रिया हमारे मानव-जीवन के बहुत ही निकट है। मानव-जीवन की पद्धति को समझने का सबसे सुन्दर, सरल, सरस, सार्थक रूप भी खेती ही है।[1] इसीलिए वेद, उपनिषद् आदि शास्त्रों में स्थान-स्थान पर मानव-जीवन की कृषिजन्य पदार्थों से उपमा दी गई है। मानव-शरीर की विविध रस, रक्त, मांस, मज्जा आदि सात धातुएँ भी वृक्ष, पौधे, लता आदि के अंगों से मेल खाती हैं। 'कल्चर' शब्द का स्वतन्त्र या एग्रीकल्चर शब्द में 'खेती' अर्थ किया जाता है। वैसे इसे संस्कृति के अर्थ में भी प्रयुक्त करते हैं, क्योंकि संस्कृति मानव-जीवन के निखार की प्रक्रिया का नाम है और जो कृषि की तरह एक योजनाबद्ध, सुनिश्चित प्रक्रिया पर आश्रित है। अतः यह कृषि-प्रक्रिया मानवजीवन के जीने का आधार ही नहीं, अपितु जीवन-पद्धति को समझने का एक सुन्दर रूपक है।

---

१. इसके विस्तार के लिए 'अविस्मरणीय स्मारक—आर्यसमाज' पढ़ें।

इसी आधार पर ही जन्म-मरण की उलझन को समझाते हुए कठ-उपनिषद् के ऋषि ने कहा है[1]—जैसे किसी प्रकार की फसल के लिए पहले भूमि की सज्जा, वीज-वपन, सिंचाई, सँभाल होती है और तब जाकर वह फसल तैयार होकर पकती है, ऐसे ही माता-पिता=विवाह, जन्म, पालन-पोषण, शिक्षा, संस्कार आदि से मानव-जीवन पूर्णता की ओर बढ़ता है और एक दिन वह अपने सांसारिक क्रियाकलाप को पूर्ण करके यहाँ से कूच करता है। फिर फसल की तरह ईश्वर की व्यवस्था से अपने कर्मों के अनुरूप नये चोले को धारता है और इस प्रकार आवागमन का यह चक्र आगे-से-आगे चलता ही रहता है।

मानव-जीवन की इस कहानी को स्पष्ट करते हुए उपनिषद् के ऋषि ने एक विशेष बात की ओर हमारा ध्यान दिलाया है, जिसको पूर्वपीठिका के साथ इस प्रकार से कह सकते हैं।

जिस संसार में हम रहते हैं, वहाँ हमारे चारों ओर कुछ ऐसी व्यवस्थाएँ दिखाई देती हैं, जो अटल हैं। उनमें किसी व्यक्ति की इच्छा से कोई परिवर्तन नहीं आता; यहाँ प्राकृतिक नियम नियमित रूप से अपना कार्य करते हैं। अतः हम सबका विश्वास है कि इस दुनिया का एक नियामक है, उसके नियमों में ही ये सूर्य-चन्द्र आदि लोक-लोकान्तर, ग्रह-नक्षत्र, जल-वायु और पृथिवी आदि प्राकृतिक पदार्थ अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। ये अपनी व्यवस्था से इधर-उधर नहीं जाते।

ऐसे ही हम सबका विश्वास है कि जीवात्मा अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार कर्म करते हैं, पर वे अपने कर्मों का फल कर्मफलदाता की व्यवस्था के अनुरूप ही प्राप्त करते हैं। सभी जीव अपने कर्मों के अनुसार जन्म-मरण, सुख-दुःख भोगते हैं। तभी तो कहा है—'कर्मप्रधान विश्व रचि राखा। जो जस करहि सो तस फल चाखा॥' (—गोस्वामी तुलसीदास) अर्थात् इस जगत में किसी के जन्म और मरण की व्यवस्था ईश्वर के नियमानुसार ही होती है।

जिस आत्मा के जैसे कर्म और जैसा उसका ज्ञान होता है, वह उसके अनुसार ईश्वर की व्यवस्था में कभी किसी चोले को धारता है, तो कभी किसी शरीर में जाता है।[2] अर्थात् प्रत्येक जीव अपने कर्म एवं

---

१. सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः।—कठ १-१-६

२. योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥—कठ १-५-७

ज्ञान के अनुरूप कभी जरायुज योनि के मानव या पशु-चोले में, तो कभी अण्डज-प्रक्रिया से प्राप्त होनेवाले पक्षी, पतंग आदि के देह में जाता है, तो कभी स्वेद=पसीने की गर्मी या गन्ध से पैदा होनेवाले जूँ, सुरसरी के शरीर में पहुँच जाता है, तो कभी वनस्पति-जगत् के स्थावर शरीरों में घूमता प्रतीत होता है।[1] जैसे खेती में कुछ फसलें बीज से उगती हैं, तो कुछ गन्ने जैसी काण्ड और कुछ गुल्म-प्रक्रिया से। जिस प्रकार फसल उगाने के अनेक तरीके हैं, उसी प्रकार अनेक ढंगों से बननेवाले शरीरों को धारण करके जीव आवागमन के चक्र को पूरा करता है।

जब कभी हम खेतों को देखते हैं, तो वहाँ कभी हल चलता दीखता है, कभी बीज बोते हुए किसान को देखते हैं और फिर एक दिन वे बीज उगकर धीरे-धीरे बढ़ते हैं। कुछ दिनों बाद दाने फसल के रूप में पककर सामने आते हैं। यदि उस फसल को काटकर किसान सम्भालता नहीं, तो वह फसल वहीं बिखर जाती है। इस तरह वह लहलहाती फसल हमारी आँखों से ओझल जाती है और वे दाने समय के साथ न जाने कहाँ-से-कहाँ पहुँच जाते हैं। उनमें से कुछ मीलों दूर फिर किसी और किसान द्वारा बोए जाते हैं। ठीक इसी प्रकार जीव कभी किसी जरायुज, अण्डज आदि प्रक्रिया से किसी काया को प्राप्त करके धीरे-धीरे उस रूप में पनपता है और एक दिन अपनी उस जीवन-यात्रा को भी पूर्ण करके अपने कर्मों के अनुकूल आगामी यात्रा का पथिक बन जाता है। यही आवागमन का चक्र विविध रूपों में हमारे चारों ओर समाया हुआ है। मानव जैसे चोले में आत्मा सभी तरह की इन्द्रियों के साथ सजधजकर स्वार्थ-परार्थ के कार्य पूर्ण करता है। कुछ ऐसे शरीर भी हैं, जिनमें एक-दूसरे की अपेक्षा अनेक इन्द्रियाँ कम या ज्यादा होती हैं। कुछ अपने जीवन में स्वावलम्बी और स्वतन्त्र कर्ता होते हैं, तो कुछ विविध रूप में परवश तथा परावलम्बी। इस प्रकार कर्मयोनि और भोगयोनि के विविध रूप इस संसार में दृष्टिगोचर होते हैं।

दूसरी बैठक

जन्म-मरण की उलझन को समझने के लिए पहली बैठक से भी अधिक श्रोता आज बड़ी उत्सुकता से यहाँ आए हैं। संगीतप्रिय जी ने

१. मनुस्मृति के पहले अध्याय में ४१—४६ तक जरायुज, अण्डज आदि का भेद-उपभेदसहित वर्णन किया गया है।

एक मधुर भजन से सबको मन्त्रमुग्ध किया। तब सर्वप्रिय जी मंच पर विराजमान हुए और कहा—सज्जनो! हमने पहली बैठक में जन्म-मरण की उलझन को समझने के लिए कठोपनिषद् के संकेत के अनुसार कृषि की प्रक्रिया के आधार पर कुछ विचार किया था। आज के सत्संग में पहले जन्म-मरण शब्द पर कुछ विशेष विचार किया जाएगा, जिससे किसी की मृत्यु पर अकस्मात् हतप्रभ होनेवालों के मन में उभरनेवाली उलझनों को सुलझाया जा सके।

जन्म की परिभाषा—जन्म शब्द जनि (प्रादुर्भावे) धातु से बनता है, जिसका अर्थ है—पैदा होना, प्रकट होना। जब कोई चीज पैदा होती है या बनती है, तो उसका बनानेवाला कुछ वस्तुओं को लेकर अपने औजारों की सहायता से उसको बनाता है। जैसे कि हलवाई बर्फी बनाने के लिए दूध को आग पर रखता है, दूध उबल-उबलकर गाढ़ा हो जाता है, फिर वह उसमें यथासमय मीठा आदि डालता है। इस प्रकार दूध बाह्य रूप में कई परिवर्तनों के बाद बर्फी के रूप में सामने आता है।

इसीलिए यास्काचार्य ने निरुक्त में लिखा है[1] कि कोई चीज पहले पैदा होती है, इसके बाद वह अस्तित्व में आती है और फिर उसमें कई प्रकार के परिवर्तन आते हैं और तब वह बढ़ती है तथा फिर उसमें किसी प्रकार की क्षीणता भी समय के साथ आती है और अन्त में वह चीज किसी समय किसी-न-किसी प्रकार से नष्ट हो जाती है अर्थात् आँखों से ओझल हो जाती है। इस प्रकार प्रत्येक पैदा होनेवाली वस्तु इतनी क्रियाओं में से निकलती है।

पैदा होने वाली वस्तु को कार्य, और जिनके मेल से वह बनती है उनको कारण कहते हैं। कारण के गुणों का कार्य पर प्रभाव होता है।[2] यथा रोटी रूपी कार्य के आटा, पानी, आग आदि कारण होते हैं, और जैसा नमकीन, मीठा, कनक, मक्की आदि का आटा होता है, वैसी ही रोटी बनती है। दूसरी पैदा होने वाली चीजों में जैसे कइयों का मेल होता है, ऐसे ही हमारे जन्म (जीवन) के रूप में आत्मा, अन्तःकरण, और इन्द्रियों का मेल होता है। शरीर शब्द सारे धड़ के लिए आता है; शरीर में ऊपर से लेकर नीचे तक आँख, कान, नाक, त्वक्, जिह्वा के

---

१. जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते, विनश्यति—इति १-१-२

२. कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः।—वैशेषिक २-१-२४

रूप में पाँच ज्ञान इन्द्रियाँ हैं[1], जो रूप, शब्द, गन्ध, स्पर्श और रस का ज्ञान करती हैं।[2] वाणी, हाथ, पैर, मल-मूत्र-इन्द्रियाँ कर्मेन्द्रियाँ हैं, जो बोलने, पकड़ने-छोड़ने, चलने आदि का कार्य करती हैं।

इसीलिए न्यायदर्शन के प्रणेता गौतम मुनि ने कहा है—शरीर से होनेवाली सारी क्रियाओं, आँख, कान आदि इन्द्रियों और उनके अर्थों-रूप, रस आदि का आधार शरीर ही है, अर्थात् इन्द्रियों से होने वाले ये सारे कार्य जिस स्थान पर होते हैं, उसे शरीर कहते हैं। जैसे किसी भवन में रहनेवाले वहाँ रहकर सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते, हँसते-खेलते, पढ़ते-लिखते हैं; वहाँ वे सभी तरह का अपना व्यवहार करते हैं; मकान उनके व्यवहार का आधार होता है, वैसे ही शरीर से होने वाली चेष्टाओं और शरीर में रहकर अपना-अपना कार्य करने-वाली इन्द्रियों का अधिष्ठान शरीर है।[3] तभी तो कहते हैं कि लाल-पीले आदि रूपों, मधुर-कटु-तीखे आदि रसों का अनुभव, भोग जिस स्थान में होता है, वह शरीर कहलाता है।[4]

प्राण—हमारे शरीर में साँस लेने-छोड़ने, शरीरधारण का कार्य प्राण करते हैं। प्राणवायु शरीर के अन्दर विचरता हुआ शरीर की रस, रक्त आदि धातुओं को धारण करता है और मल को प्रेरणा देने का कारण बनता है।[5] शरीर में भिन्न-भिन्न स्थान पर रहकर अलग-अलग कार्य करने के कारण ही वह प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान के

---

१. श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पंचमी।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक् चैव दशमी स्मृता ॥९१॥
बुद्धीन्द्रियाणि पंचैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः।
कर्मेन्द्रियाणि पंचैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते ॥९२॥
एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम् ॥९३॥—मनुस्मृति द्वितीय अध्याय

२. घ्राण रसन चक्षुस्त्वक् श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः।—न्याय० १-१-१२
गन्ध रस रूप स्पर्श शब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः।—न्याय० १-१-१४

३. चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्।—न्याय० १-१-११

४. भोगायतनं शरीरम्।—कणादगौतमीयं न्याय प्रकरण।

५. समस्तेन्द्रियवृत्तिप्राणादिलक्षणजीवनम्।—व्यासभाष्य योगसूत्र ३, ३९=
प्राणादिलक्षणवाली इन्द्रियों की वृत्ति ही जीवन है।

नाम से पाँच प्रकार का कहलाता है।[1] वस्तुतः जीवन का मूल या पहचान प्राण ही है, क्योंकि 'जब तक साँस—तब तक आस'।

अन्तःकरण—जैसे हम आँख से बाहर के दृश्यों को देखते हैं, वैसे ही हमारे अन्दर भी सोचने, निर्णय करने, पिछली यादें याद करने के कार्य जहाँ होते हैं, वहाँ मैं तथा मेरेपन की भावना भी प्रकट होती हैं। ये जिनके द्वारा होती हैं, उनको अन्तःकरण—(अन्दर की इन्द्रियाँ, साधन) कहते हैं और ये मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार के नाम से चार हैं।

आत्मा—प्राण, शरीर और उसकी अन्दर-बाहर की इन्द्रियाँ जिसकी चेतना, प्रेरणा से अपना-अपना कार्य करती हैं, वह आत्मा है।[2] यह अजर-अमर आत्मा ही शरीर का अधिष्ठाता तथा संचालक है।

जब हम कोई चीज खाते हैं, तो खाते ही स्वाद से पता चलता है कि इसमें किस-किस चीज का स्वाद या मेल है। जैसे रसगुल्ला खाते

---

१. शरीरान्तःसञ्चारी वायुः प्राणः, स चैकोऽप्युपाधिभेदादपानादि संज्ञां लभते। (तर्क संग्रह)=शरीर के अन्दर संचरण करनेवाला वायु प्राण कहलाता है, वह एक होता हुआ भी उपाधि-भेद से अपान आदि के नाम से पुकारा जाता है। प्राणोऽन्तःशरीरे रस-मल-धातूनां प्रेरणादिहेतुरेकः सन् क्रियाभेदादपानादिसंज्ञां लभते। (प्रशस्तपादभाष्य—वायु प्रकरण)=शरीर के रस, मल और धातुओं को प्रेरणादि देने का कारण प्राण हीं है। वह एक होता हुआ भी क्रियाभेद से प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान कहलाता है। तभी तो कहते हैं—हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले। उदानः कण्ठदेशे स्याद् व्यानः सर्वशरीरगः॥ सांख्य सूत्र में प्राण की चर्चा इस प्रकार है—'सामान्यकरण-वृत्तिः प्राणाद्यो वायवः पञ्च' २-३१

२. ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते॥—कठ० ५-३

जो प्राणवायु को लेता है और मुख, नासिका, गुदा आदि छिद्रों से अपान को बाहर निकालता है। जो शरीर के अन्दर वामन (सूक्ष्म, पूज्य) रूप में स्थित है और सारी इन्द्रियाँ जिसकी उपासना करती हैं अर्थात् जिसकी शक्ति, चेतना से अपना-अपना कार्य करती हैं।

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ॥—कठ० ५-५

कोई जीवनधारी केवल प्राण और अपान से नहीं जीता, अपितु ये श्वास-प्रश्वास जिसके आधार से कार्य करते हैं, उसी आत्मा के कारण ही यह जीवन चलता है।

समय पनीर, मीठे और बनाने की कला का पता चल जाता है या चटनी चखने पर पोदीने, प्याज, अनारदाना या खटास (इमली, अम्बी), नमक, मिर्च का अनुभव होता है, ऐसे ही जब हम अपने जीवनव्यवहार पर विचार करते हैं, तो स्पष्ट होता है कि हमारे इन व्यवहारों में यह अंश या यह कार्य शरीर द्वारा होता है। यह इस वाह्य इन्द्रिय के द्वारा होता है और यह अन्तःकरण के माध्यम से होता है। जैसे कि जाग्रत्-अवस्था[1] में सारी इन्द्रियाँ, मन और आत्मा से जुड़कर अपना-अपना कार्य करती हैं। स्वप्न-अवस्था में वाहर की इन्द्रियाँ सो जाती हैं, तब मन आत्मा की चेतना से अनेक तरह की कल्पनायें करता है। सुषुप्ति[2]= गाढ़ निद्रा में मन भी सो जाता है, तब केवल आत्मा और प्राण जागते हैं।[3] उदाहरण के लिए जब हमारे सामने कोई चीज आती है, तो आँख उसके हरे, नीले आदि रूप को तथा आकार को बनाती है, त्वचा उसके नर्म-कठोर, उष्ण-शीत स्पर्श का अनुभव करती है। नासिका से उसके गन्ध का वोध होता है। चखने पर रसना से उसके स्वाद का पता चलता है और मन उसके सम्वन्ध में अनेक तरह की ऊहा-पोह करता है। वुद्धि निर्णय करती है; यदि वैसी चीज पहले भी वरती होती है, तो चित्त उन यादों को याद करता है। यह मेरी है या किसी और की, इस सम्बन्ध का अनुभव अहंकार करता है। ये सारे करण अपना-अपना कार्य आत्मा की चेतना से करते हैं।

अतः जीवित अवस्था में हम जो व्यवहार करते हैं, उस स्थिति में हमारा रूप आत्मा, मन और इन्द्रियों के मेल के रूप में होता है, और

---

१. वृहदारण्यक उपनिषद् ४, ३, ८-९ में जाग्रत्-अवस्था से जीवित की तुलना की गई।

२. मृत्यु को सुषुप्ति-अवस्था से वृहदारण्यक उप० ४, ३, ८-९ में समझाया गया।

३. सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ॥
—यजु० ३४-५५

तिर्यग्विलश्चमस ऊर्ध्ववुध्नो यस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्।
अत्रासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो वभूवुः॥
—अथर्व० १९-२६-९

इन मन्त्रों का अर्थ और पूर्ण विवेचन 'सुखी कैसे रहें?' के 'मैं कौन हूँ' प्रकरण में देखें।

तभी हमारे दुनियावी व्यवहार होते हैं। मन, इन्द्रियों के विना अकेला आत्मा जीवन का कोई भी व्यवहार नहीं कर सकता। इसीलिए कठ उपनिषद् के ऋषि ने कहा है[1] कि विचारशीलों का विचार है कि दुनिया की चीजों को अपने व्यवहार में वर्तकर सुख-दुःख का अनुभव करनेवाला—भोक्ता, प्रत्येक भोग—आत्मा, इन्द्रियों और मन के मेल के कारण ही करने में समर्थ होता है। इसी वात की पुष्टि चरककार ने भी की है।[2] इसी रहस्य को स्पष्ट करते हुए न्यायदर्शन के प्राचीन भाष्यकार वात्स्यायन मुनि ने लिखा है[3]—किसी के पैदा होने का अर्थ है शरीर, इन्द्रियों और मन का आत्मा से मेल होना। अतः दुनिया की दूसरी बननेवाली चीजों की तरह किसी प्राणी के जन्म का अर्थ है[4]—इन सबका मेल।

मरण का मर्म—आइए! अब जन्म शब्द के वाद मरण शब्द पर भी कुछ विचार करें। मरण शब्द जन्म शब्द से विपरीत अर्थ को रखता है, अतः इसका सीधा-सा भाव हुआ कि किसी बनावट, उत्पत्ति का आँखों से ओझल हो जाना। किसी का न रहना ही उसका मरण, उसकी मौत या मृत्यु कहलाती है। कुछ के मेल से वनी हुई चीज के जोड़ जब किसी भी कारण से अलग-अलग हो जाते हैं, तब उसका यह बिखराव ही उसका मरण कहा जा सकता है। जैसे मकान वहुत सारी चीजों के मेल से वनता है, समय के साथ एक दिन उसका ताल-मेल ढीला पड़ जाता हैं। कई बार समय से पहले भी किसी प्रकार की टक्कर, भूचाल, आग या बनावट की गड़बड़ के कारण वह ताल-मेल बिखर जाता है। तब वह भवन सर्दी-गर्मी-वर्षा से वचाव और आवास का अपना कार्य नहीं

---

१. आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः। १-३-४

२. शरीरेन्द्रिय सत्त्व (मनः) आत्मसंयोगः। चरक, सूत्र स्थान १-४२
सत्त्वात्मशरीरं च त्रयमेतत्त्रिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति संयोगात् तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्॥४६॥

३. उत्पन्नस्य क्वचित्सत्त्वनिकाये…। उत्पन्नस्य सम्बद्धस्य। सम्बन्धस्तु देहेन्द्रिय-बुद्धिवेदनाभिः पुनरुत्पत्तिः पुनर्देहादिभिः सम्बन्धः।…यत्र देहादीनन्यानुपादत्ते तद् भवति। १-१-१९

४. यदाणुमात्रिको भूत्वा बीजं स्थास्नु चरिष्णु च।
समाविशति संसृष्टस्तदा मूर्तिं विमुञ्चति॥—मनु० १-५६
जब जीव सूक्ष्म शरीर से संपृक्त होकर स्थावर या जंगम शरीर के अन्दर सूक्ष्म रूप में प्रवेश करता है, तभी जीव देह को धारण करता है।

करता, यही उसकी मौत है।

मशीनों के वारे में प्राय: ऐसा देखा जाता है कि वे पहले की तरह ही बनी रहती हैं, उसके हिस्सों का ताल-मेल पहले की तरह ही दीखता है, पर वे अपना कार्य करना बिल्कुल वन्द कर देती हैं। बार-बार यत्न करने पर भी वे अपना कार्य नहीं करतीं। किसी विशेष कारण से या समय के साथ नकारा हो जाने से उनकी मशीनरी कार्य नहीं करती। कई वार टक्कर या आग से भी यन्त्र एवं यान नकारा हो जाते हैं। ऐसी स्थिति के लिए यम शब्द अधिक उपयुक्त है, क्योंकि यमु (उपरमे) धातु से यम शब्द बनता है, जिसका भाव है कि अपने कार्य से उपराम होना, अलग हो जाना, नकारा हो जाना।[1] इसीलिए मौत और मौत के नियामक के लिए यम शब्द आता है।[2] अत: स्पष्ट रूप से बनी हुई जड़ चीजों की मौत के सम्बन्ध में हम प्राय: ऐसा ही देखते और अनुभव करते हैं। इसके आधार पर प्राणियों की मौत के विषय में सरलता से समझा जा सकता है। हाँ, इस वारे में अब अगली बैठक में चर्चा करेंगे।

तीसरी बैठक

मृत्यु का मर्म—प्रभु-भक्ति के भजन के बाद महात्मा जी ने प्रवचन प्रारम्भ करते हुए कहा—सत्संगी बन्धुओ ! एक विशेष घटना के कारण संवेदन के पिता की मौत को लेकर हमने यह चर्चा आरम्भ की है। पंजाब में १९७८ से टकराव का वातावरण शुरू हुआ और १९८० से

---

१. तमोऽयं तु समाश्रित्य चिरं तिष्ठति सेन्द्रिय:।
न च स्वं कुरुते कर्म तदोत्क्रामति मूर्तित:॥—मनु० १-५५

जब कोई जीव इन्द्रियों सहित तम (अज्ञान, असामर्थ्य) से घिरा रहता है और अपने शरीर से होने वाले शारीरिक तथा श्वास-प्रश्वास आदि नहीं करता, तव वह देह से निकल जाता है।

२. मृत्यु के लिए यम, अन्तक शब्द वैदिक साहित्य में बहुत ही प्रयुक्त हुए हैं। यथा—मृत्युर्यमस्यासीद्दूत:—अथर्व० १८-२-२७; ताभ्यां यमस्य सादनम्—अथर्व० १८-२-५६; तस्मै यमाय नमो मृत्यवे—अथर्व० ६-६३-२; अन्तकाय मृत्यवे नम:—अथर्व० ७-१२३-१।

अन्त्येष्टि संस्कार के मन्त्रों में यम शब्द वहुत अधिक बार आया है। यम के अनेक अर्थों का संस्कारविधि में महर्षि दयानन्द ने विवेचन किया है।

यह आतंक और भय के वातावरण में बदल गया है, जिसमें हजारों मौतें हो चुकी हैं। इस क्रिया-प्रतिक्रिया से हजारों परिवार उजड़ गए हैं। इस स्थिति से एक विचारशील के मन में अनेक प्रकार के प्रश्न उभरते हैं। उनमें से दार्शनिक प्रश्नों की चर्चा के प्रसंग में जन्म-मरण शब्द पर विचार करते हुए पिछली बैठक में जड़ चीजों के नाश की चर्चा की गई थी। आज जानदार प्राणियों की मौत पर पहले कुछ विचार करते हैं—

जब कोई मर जाता है, तो उस आदमी की मौत के लिए आमभाषा में कहा जाता है कि पंछी उड़ गया, प्राणपखेरू उड़ गए, प्राण निकल गए, खेल खत्म हो गया, इसका शरीर ठण्डा पड़ गया है। ये शब्द मौत की क्रिया और उसके परिणाम की ओर संकेत करते हैं। प्रारम्भिक तीन शब्दों से स्पष्ट होता है कि जब किसी देह से प्राण निकल जाते हैं तो उसको उसकी मौत कहते हैं।[1] जैसे फुटबाल, वालीबाल या पहिए की ट्यूब से हवा जब निकल जाती है, तो वह पहले की तरह कार्य नहीं करती। ऐसे ही प्राण जीवन का एक मुख्य तत्त्व है और जीवन शब्द जीव (प्राण धारणे) से बनता है। अतः किसी कारण से प्राण के निकलने को मौत कहते हैं।[2]

खेल खत्म होने का भाव है कि जीवन-स्थिति में जो विविध कार्य हो रहे थे, वे अब नहीं होते। जैसे कि खेल में जो खिलाड़ी जिस रूप में जहाँ खेल रहे थे, वे उस रूप में खेल खत्म होने पर नहीं खेलते। जीवित शरीर में कुछ गर्मी होती है, इसीलिए तापमान देखा जाता है। आत्मा के सम्पर्क से शरीर में जो चेतना, गर्मी होती है, देहान्त हो जाने पर जब आपस का सम्पर्क छिन्न-भिन्न हो जाता है, तो वह गर्मी शरीर से निकल जाती है।

सामान्य रूप से हमारा शरीर पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँच भूतों का पुतला है। इनमें से पृथिवी का अंश अधिक

---

१. बृहदारण्यक उप० के ४-३-३६ और ४-४-२ स्थल इस दृष्टि से द्रष्टव्य हैं।

२. यावद् वायुः स्थितो देहे तावज्जीवनमुच्यते।
मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरोधयेत्॥—हठयोगप्रदीपिका २-३-११
शरीरं हि विना वायुं समतां याति रेणुभिः।
—वा० रामायण, उत्तर का० ३५-६०
येन जीवति जीवोऽयम् निर्जीवो यं विना भवेत्।—शार्ङ्गधर पद्धति

होने से इसे पार्थिव भी कहते हैं।[1] जैसे पृथिवी से बनी हुई दूसरी चीजें शस्त्र से कट जाती हैं, आग से जल जाती हैं, जल में गल जाती हैं और वायु से सूख जाती हैं, ऐसे ही हमारा यह पार्थिव शरीर किसी-न-किसी प्रकार के शस्त्र का शिकार हो जाता है। अनेकविध अग्नियों में से किसी भी प्रकार की आग से जल उठता है। जल इसे गलाता है और वायु सुखा देती है। तभी तो यजुर्वेद में कहा है[2]—इस शरीर का अन्त राख ही है, जो कि अन्त में मिट्टी में मिल जाती है। वैसे तो देह का शरीर नाम भी इसीलिए है कि कहीं से कभी भी कट जाता है तथा न जाने किस दुर्घटना के कारण कब यह ठण्डा हो जाए, क्योंकि शरीर शब्द हिंसा अर्थवाली शॄ धातु एवं ठण्डा होना अर्थवाली शम् धातु से बनता है।[3] तभी तो किसी कवि ने कहा है—

आदमी का जिस्म क्या है? जिस पै शैदा है जहाँ,
एक मिट्टी की इमारत और मिट्टी का मकाँ।
खून का गारा है इसमें और ईंटें हड्डियाँ,
चन्द साँसों पर खड़ा है यह खयाली आसमाँ।
मौत की पुरजोर आँधी इससे जब टकरायगी,
देख लेना यह इमारत खाक में मिल जायगी।

यही भाव मृत्यु शब्द का भी है, क्योंकि मृङ् (प्राणत्यागे=प्राणों का छूटना, निकलना) धातु से यह शब्द बनता है। मृत, मरण शब्द भी इसी धातु से बनते हैं, जिसका अभिप्राय है कि किसी चेतन आत्मा का अपने कर्मों के अनुसार परमात्मा की व्यवस्था से प्राप्त किये हुए पहले शरीर, इन्द्रिय और मन से अलग होना। जैसे सीप से मोती के निकल जाने के बाद वह सीप बे-कीमत की होकर रह जाती है, वैसे ही इस नित्य

---

१. न्यायदर्शन में इस चर्चा का ३-१ में २८ से ३२ सूत्रों तक संकेत है तथा शरीर को 'पाञ्चभौतिकम्' (३-१-३०) दर्शाया है। पञ्चत्व शब्द भी मौत के लिए प्रयुक्त होता है, जो कि पाँचभूतों के पाँचपने का संकेत करता है।

चार्वाक दर्शन की मान्यता है कि—

अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्यनलानिलाः।
चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते ॥३॥

२. अथेदं भस्मान्तं शरीरम्।—यजु० ४०-१५
भस्मीभूतस्य देहस्य।—चार्वाक

३. शरीरं शृणातेः शम्नातेर्वा—निरुक्त २-५; शॄ (हिंसायाम्)=मारना, काटना; शमु (उपशमे)=ठण्डा हो जाना।

आत्मा के शरीर से निकलते ही, यह शरीर मिट्टी का ढेर ही होकर रह जाता है और तब यह शीघ्र ही सड़ना शुरू हो जाता है।

मृत्यु शब्द पर विचार करते हुए शब्दों के छिपे रहस्य को खोलने में कुशल निरुक्तकार महर्षि यास्क ने लिखा है[1]—यह मारती है अर्थात् पहले से प्राप्त शरीर, इन्द्रिय और मन से नित्य आत्मा को अलग करती है और फिर अलग हुए इस अजर-अमर आत्मा को नया शरीर धारण कराने के लिए ले जाती है। तभी तो आत्मा को अपने कर्मों के अनुरूप एक नए शरीर को धारण करने का अवसर प्राप्त होता है। हम अपने आसपास आए-दिन देखते हैं कि अनेक जीर्ण-शीर्ण, विविध चिन्ताग्रस्त कलेवर से वियुक्त हो रहे हैं और दूसरी ओर लाड-चावों से भरे नए निश्चिन्त शिशु-जीवन को अनेक प्राप्त कर रहे हैं। इसी बात को दृष्टान्त के साथ समझाते हुए गीताकार ने कहा है[2]—जैसे कोई फटे-पुराने कपड़ों को उतारकर खुशी-खुशी दूसरे अच्छे वस्त्रों को धारण करता है, उसी प्रकार यह अजर-अमर आत्मा जीवन-यात्रा करते-करते थके-हारे, अक्षम देह को, जो कि अब अपने शारीरिक कर्त्तव्य-कर्मों को करने में सर्वथा असमर्थ हो गया है, ऐसी जर्जर काया को छोड़कर आशा-भरे नए देह को धारण करता है।

इसी भाव को अंग्रेजी भाषा के कवि लांगफैलो ने इस रूप में व्यक्त किया है कि 'मृत्यु—मृत्यु (सर्वनाश) नहीं है, जैसी कि हमें दिखाई देती है। वह तो जीवन का एक परिवर्तन है; थोड़े दिनों का हमारा यह जीवन, उस दिव्य जीवन का एक बाह्य भाग है, जिसके प्रवेशद्वार को हम मृत्यु कहते हैं।' अतः चोला बदलने का नाम या अन्तराल ही मृत्यु है। तभी तो कहा है—

'निर्भय स्वागत करो मृत्यु का, मृत्यु एक है विश्राम-स्थल।
जीव जहाँ से चलता है, धारण कर नवजीवन-सम्बल॥
मृत्यु एक सरिता है, जिसमें श्रम से कातर जीव नहा कर।
फिर नूतन धारण करता है, काया पूर्व बहा कर॥'

आज जिस जीवन को हम जी रहे हैं, उसमें सफल होने के लिए उसके रहस्य को समझना बहुत जरूरी है, क्योंकि हमारा जीवन जन्म से प्रारम्भ होता है, जो कि पहली साँस से अन्तिम साँस तक चलता है।

---

१. मारयतीति सतः, मृतं च्यावयति।—निरुक्त ११-६

२. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णानि, अन्यानि संयाति नवानि देही॥—२-२२

इसमें यथासमय जरूरत के अनुसार खान-पान, रहन-सहन, वस्त्र-धारण, अन्य व्यवहार्य वस्तुओं का बर्ताव, शिक्षा, चिकित्सा और यथा-योग्य—यथापेक्षित रिश्ते-नातेदारों, मित्रों और कारोबारियों के साथ सम्बन्धों का जो व्यवहार चलता है, उसे हम जीवन कहते हैं। अतः जीवन को अच्छा बनाने के लिए जहाँ खान-पान, रहन-सहन, परस्पर बर्ताव, बोल-चाल के राज को जानना बहुत जरूरी है[1], वहाँ (वृद्धों की) स्वाभाविक मृत्यु के साथ अकस्मात् घटने वाली मृत्यु की घटना और उसकी विवेचना को समझना भी आवश्यक है, अन्यथा गौतम बुद्ध या बालक मूलशंकर की तरह रहस्य स्पष्ट न होने पर एकदम पासा भी पलट सकता है। तभी तो अनेक बार अनेक इस अवसर पर घबराकर अपनी मौत आप बुला बैठते हैं। क्योंकि मनुष्य एक परस्परापेक्षी सामाजिक प्राणी है, अतः कई बार परिवार के किसी एक विशेष सदस्य के उठ जाने पर सारा परिवार एकदम उजड़ जाता है। क्योंकि—

आज विज्ञान ने जहाँ अपनी अनेक उपलब्धियों से मानव-समाज का जीवन सुख-सुविधाओं से भर दिया है, वहाँ भौतिक विज्ञान द्वारा बनाये गए यन्त्रों और यानों की आए दिन होने वाली दुर्घटनाओं से मौत खिलौना बनकर रह गई। तभी तो आकाशवाणी, दूरदर्शन एवं समाचार-पत्रों में आए दिन इसके समाचार सामने आ रहे हैं। इसके साथ दैविक प्रकोप, युद्ध, पारस्परिक क्लेश-द्वेष-स्वार्थ और बदले की भावना के कारण भी अनेक मौतें होती रहती हैं, जिसका ताजा उदाहरण पंजाब, बम्बई, भिवण्डी, मेरठ की घटनायें हैं। हमारे आस-पास केवल किसी की भगवान् की व्यवस्था के अनुसार स्वाभाविक मृत्यु ही नहीं होती, अपितु अनेक अकस्मात् दुर्घटनाएँ भी होती हैं। ये मौतें अपनी या दूसरों की गलतियों के कारण भी होती हैं, जैसे कि भोपाल के यूनियन कारबाईड कारखाने से जहरीली गैस रिसने के कारण ३ दिसम्बर १९८४ को प्रातः-प्रातः दुःखद घटना हुई, जिसके प्रभाव से तीन हजार लोगों की इहलीला समाप्त हो गई। अपंग, रुग्ण होनेवालों की संख्या एक लाख से कम नहीं रही। यह दुर्घटना स्पष्ट रूप से इन्सानी लापरवाही का परिणाम है। ऐसी ही कनिष्क विमान की दुर्घटना जान-बूझकर किए षड्यन्त्र का परिणाम है। ऐसी स्थिति में भाग्य, लिखी को बीच में नहीं लाना चाहिए, क्योंकि इसका यह कारण

१. इसके विशेष विवेचन के लिए 'जीवन दर्शन' देखिए।

स्पष्ट है।[1] पुनरपि केवल भाग्य का खेल समझ करके ही आज दिल को सन्तोष देना 'बिल्ली को देखकर कबूतर के आँख बन्द करने' के ही समान है। इसलिए मृत्यु और तज्जन्य वियोग-वेदना के सम्बन्ध में कुछ विचारना एवं जानना बहुत जरूरी हो जाता है।

किसी की मृत्यु के अवसर पर वियोग, बिछोह शब्द का भी प्रयोग होता है। जैसे बाह्यरूप से यह बात सामने आती है कि कोई किसी परिवार, मित्रमण्डली और किन्हीं सम्बन्धियों से जुदा हो जाता है, वैसे ही विचारने पर यह तथ्य भी सामने आता है कि सूक्ष्म रूप से भी एक आत्मा अपने पूर्वप्राप्त शरीर, इन्द्रिय और मन से वियुक्त होती है। तभी तो हम देखते हैं कि एक मृतक काया वहीं पड़ी होती है, जो न पहले की तरह बोलती है और न ही डोलती है। इसी स्थिति को देखकर किसी ने कहा है—

अपने गृह को छोड़ चला यह
नाते रिश्ते तोड़ चला यह
सबसे मुखड़ा मोड़ चला यह

इस सारे विवेचन का यह निष्कर्ष है कि जो वस्तु जिस रूप में बनती है, उसके उस रूप का बिखराव ही, उसकी मौत कही जा सकती है।

सभी भारतीय शास्त्रों में आत्मा को अजर-अमर और नित्य माना गया है। यह न तो कभी पैदा होती है, और न ही मरती है; यह सदा एकरस रहती है और न जाने कितने अनन्त समय से यह चली आ रही है। शरीर के नष्ट होने पर भी यह नष्ट नहीं होती। श्वेताश्वतर उपनिषद् में स्पष्ट रूप में लिखा है, कि जीव अत्यन्त सूक्ष्म और सदा रहनेवाला है।[2] इस बात को उदाहरण के साथ स्पष्ट करते हुए उपनिषद् के ऋषि कहते हैं, कि किसी बाल (केश) का अगला हिस्सा लो, उसके कम-से-कम कल्पना से ही सौ टकड़े करो और उस एक टुकड़े के फिर सौ टुकड़े करो, अर्थात् वह बाल इतना सूक्ष्म होगा, जो कि कल्पना से ही कल्पित किया जा सकता है, वैसे ही यह आत्मा भी उतना ही सूक्ष्म है। अतः अणुवीक्षण यन्त्र की सहायता से भी नहीं दीखता।

---

१. मीमांसा दर्शन का यह सिद्धान्त है कि 'अदृष्टात् दृष्टं वरम्' अन्यथा 'उपस्थितं परित्यज्य—अनुपस्थितं याचते' वाली बात ही होगी।

२. बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥५-९॥

यह सूक्ष्म आत्मा न स्त्रीरूप है और न ही पुरुष या नपुंसक रूप में, अपितु वह जैसे शरीर को धारण करता है, वह वैसा ही कहलाने लगता है।[1] अर्थात् स्त्री-पुरुष शरीर के ही भेद हैं, आत्मा के नहीं। यह आत्मा अपने कर्मों के अनुरूप परमात्मा की व्यवस्था से अनेक प्रकार के स्थूल-सूक्ष्म शरीरों को अनेक योनियों में धारण करता है।[2] जैसे कोई कभी सूती, कभी ऊनी और कभी टेरीकॉट, पोलिएस्टर आदि के रंग-बिरंगे, मोटे-पतले, अनेक आकारों के वस्त्र धारण करता है।

महात्मा जी ने इस गम्भीर रहस्य को समझाते हुए कहा—आत्मा को अजर-अमर-नित्य मानने से ही कर्मफल की व्यवस्था जच सकती है, जैसे कि कपड़ों की अपेक्षा अधिक समय तक रहनेवाला सचेतन शरीर कभी कोई वस्त्र पहनता है और कभी कोई। तभी तो वह पहले पहने हुओं को याद करके नयों के साथ उनकी तुलना करता है। इससे सिद्ध होता है कि वह दोनों स्थितियों में रहता है, तभी तो वह उनकी आपस में तुलना करता है। ऐसे ही एक शरीरवाला अनेक तरह के स्वादवाले खट्टे, मीठे, चटपटे, नमकीन, तीखे आदि अनेक प्रकार के पदार्थों को खाता है और उनकी आपस में तुलना करता है तथा पहले खाए हुओं के स्वाद आदि का स्मरण करता है। ठीक इसी प्रकार यह नित्य आत्मा भी अपने पहले शरीरों में किए गए कर्मों के फल भोगने में समर्थ होता है, क्योंकि इस जन्म में किए गए सभी कर्मों का फल इसी जन्म में प्राप्त होता हुआ दिखाई नहीं देता। अतः यहाँ किए गए कर्मों के फल को भोगने के लिए इस जन्म के साथ आगामी जन्म की व्यवस्था को मानना आवश्यक हो जाता है। तथा, इस समय विविध योनियों में अनेक तरह की सांसारिक विषमताओं को देखकर कहा जा सकता है कि इस समय के विविध भेद केवल सामयिक परिश्रम के कारण ही नहीं हैं, अपितु पिछले जन्मों के परिणामस्वरूप भी होते हैं।

इस सारे विश्लेषण का भाव यह है कि नित्य आत्मा की सत्ता से ही शरीर अपने व्यापार पूर्ण करने में समर्थ होता है, तथा इसी आत्मा

---

१. नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः।
यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स रक्ष्यते ॥५-१०॥

२. कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही। स्थानेषु रूपाण्यभिसंप्रपद्यते ॥५-११॥
स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव।
रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति ॥५-१२॥—श्वेताश्वतर-उपनिषद्

की सत्ता या असत्ता से जीवित और मृतक में भेद होता है।[1] और किसी की मृत्यु के बाद जब उसका पाँचभौतिक देह नष्ट हो जाता है, तब जीवात्मा नाम का अविनाशी तत्त्व ही स्वकर्मों के अनुसार दूसरे शरीर को यथासमय धारण करता है। इसी का नाम आवागमन है, पुनर्जन्म है, जोकि भारतीय संस्कृति का एक मौलिक सिद्धान्त है और इसी के आधार पर कर्मफल-व्यवस्था टिकी हुई है। इस जन्म में किए गए सभी भले-बुरे कर्मों का फल यहीं साथ-के-साथ मिलता हुआ अनुभव में न आने पर भी, एक विचारशील एवं धार्मिक व्यक्ति प्रायः पुनर्जन्म के विश्वास पर ही शुभ कर्मों में जुटा रहता है तथा अशुभ कर्मों के करने से दूर रहता है। जब एक विचारशील अपने चारों ओर अनेक तरह की विषमताओं को देखता है, तो अनेकधा इनका कोई सामयिक कारण उसकी समझ में नहीं आता। तब अन्त में शास्त्रीय विवेचन के आधार पर यही तथ्य सामने आता है कि इन सामयिक विषमताओं का कारण गत जन्म के कर्म ही हैं।[2] आए दिन अनेक ऐसी घटनाएँ सामने आती रहती हैं, जिनमें यह बताया जाता है कि यह बालक गत जन्म में इस स्थान पर इस रूप में था और उसने उन-उन स्थानों और सम्बन्धियों को भी पहचाना। यह ठीक है कि ऐसी बातें कुछ दिन ही याद रहती हैं, सदा नहीं। सारा-का-सारा भारतीय साहित्य पुनर्जन्म के पोषक प्रमाणों से भरा पड़ा है। अतः विचारने पर यह सिद्धान्त सर्वथा तर्क-संगत, शास्त्र-सम्मत तथा व्यवस्था का व्यवस्थापक सिद्ध होता है।

इन शब्दों के साथ महात्मा जी ने आज के प्रवचन को पूर्ण करते हुए कहा कि आज की बैठक की चर्चा कुछ अधिक गम्भीर थी, अतः आज इसको यही सम्पन्न करते हैं। हाँ, अगली बैठक में वियोग और शोक पर विचार करेंगे।

---

१. स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसंपद्यमानः स उत्क्रामन् म्रियमाणः। बृहदारण्यक उप० ४-३-८=जब जीव शरीर के साथ संयुक्त होता है, तब वह जन्मा हुआ कहा जाता है और जब शरीर से निकलता है, तब मरा या मरता हुआ कहलाता है। जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते। छान्दोग्य उप० ६-११-३=अर्थात् जीवरहित देह को मृतक कहते हैं; जीव नहीं मरता, अपितु शरीर मरता है।

२. कर्मवैचित्र्यात् सृष्टिवैचित्र्यम्। सांख्य ६-४१=जैसे बीजों की भिन्नता से अलग-अलग तरह के पौधे और उनके पत्ते, फूल, फल, आकार होते हैं, ऐसे ही अपने-अपने कर्मों की भिन्नता के कारण योनियों में भेद है।

चौथी बैठक

वियोग और शोक—

आज की बैठक में श्रोता अत्यधिक उत्सुकता-भरे दृष्टिगोचर हो रहे हैं। रविवार से अगले दिन विशेष पर्व का अवकाश होने से भी जहाँ श्रोताओं की चहल-पहल है, वहाँ पास में ही कुछ दूरी पर पर्यटन-स्थल होने से भी वहाँ मनोरञ्जनार्थ आए बहुत सारे पर्यटक इस बात को सुनकर आश्रम में आ गए। संगीतप्रिय जी ने संसार की बनावट और परिवर्तनशीलता को सामने रखकर दो भजन गाए। बड़े भाव-विभोर होकर सभी ने उनका श्रवण किया। इसके पश्चात् सर्वप्रिय जी मंच पर विराजमान हुए और चारों ओर दृष्टि डालते हुए, उन्होंने कहा—प्रिय श्रोताओ ! पिछली बैठक के बाद निकष मेरे पास आया था और उसने प्रायः मन में उभरनेवाली कुछ आशंकाएँ रखी थीं। तब मैंने उसको कहा था कि वह अपनी आशंकाएँ इस बैठक में स्वयं रखे; वे वियोग और शोक के सम्बन्ध में ही हैं। अतः आप पहले निकष की बात सुनिए, फिर उस पर विचार होगा।

महात्मा जी के निर्देश पर निकष ने उठकर कहा—मैं कल एक लेख पढ़ रहा था, जिसमें यह प्रश्न उभारा गया है कि जब हम भारतीय पूरे विश्वास के साथ आत्मा को अजर-अमर मानते हैं, तो फिर किसी की मृत्यु पर इतना अधिक शोक, करुणक्रन्दन क्यों करते हैं ? क्योंकि आत्मा की अमरता और मृत्यु का आपस में कोई मेल नहीं बनता। और आत्मा को अमर मानने पर रोने का क्या प्रसंग ? अर्थात् जब आत्मा अमर है तो उसकी मृत्यु नहीं हो सकती। जब अमर आत्मा की मृत्यु नहीं होती, तो उसके लिए शोक की बात मेल नहीं खाती। भारतीयों की इस स्थिति को देखकर एक अन्य विदेशी विचारक ने लिखा है कि किसी की मृत्यु पर बिलख-बिलखकर रोते हुए भारतीयों को देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य होता है, क्योंकि भारतीय जितना अधिक आत्मा की अमरता पर विश्वास करते हैं, उतना ही अधिक वे किसी की मौत पर एक लम्बे समय तक शोक प्रकट करते हैं। अतः आत्मा की अमरता और उसके लिए करुणक्रन्दन, इन दोनों का मेल कुछ अद्भुत-सी बात है। अतः मेरी प्रार्थना है कि इस पर कुछ प्रकाश डाला जाए !

इस जिज्ञासा पर अपना प्रवचन प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रिय जी ने

कहा—निःसन्देह यह एक समझने वाली बात है कि जब आत्मा अमर है तो मौत किसकी होती है और अमर आत्मा के साथ मृत्यु तथा शोक का क्या मेल है ? आज पहले शोक के सम्बन्ध में विचार करते हैं और फिर कभी आत्मा की अमरता की चर्चा होगी।

वैसे तो संसार में किसी से थोड़ी देर बाद भी बिछुड़ना प्रायः सभी को अच्छा नहीं लगता। फिर जिसके साथ वर्षों मिल-जुलकर कार्य किया हो और एक लम्बे समय तक की मीठी यादें जुड़ी हुई हों, ऐसे वियोग में दिल भर आना, भारी हो जाना तो एक साधारण बात है। अतः अपने प्रिय परिजन के विछोह पर हृदय में शोक, दुःख उमड़ना एक स्वाभाविक बात है। वियोग और संयोग का क्रम संसार के साथ प्रारम्भ से ही जुड़ा हुआ है। मानव-हृदय की भावनाओं की समानता के कारण हमारे पूर्वजों ने भी वियोग-वेदना का अनुभव किया, जिसका काव्यात्मक चित्रण हमें अनेकत्र प्राप्त होता है। राजा अज अपनी प्रिया इन्दुमती के मृत्यु का ग्रास हो जाने पर अपनी स्वाभाविक धीरता को छोड़कर बहुत विलाप करता है। इस स्थिति का चित्रण करते हुए कविकुलगुरु कालिदास ने अपने महाकाव्य 'रघुवंश' में लिखा है—जब कठोर लोहा अग्नि से तपकर कोमल हो जाता है, तब वियोग की वेदनारूपी आग से तड़पते हुए भावना-भरे दिल अपने स्वाभाविक धैर्य को कैसे संभाले रख सकते हैं,[1] अर्थात् अपने प्रिय के विछोह में विचार-शीलों के दिल-दिमाग भी अपने धैर्य और विवेक को हाथ से गँवा बैठते हैं, साधारण जनों की तो बात ही क्या ? तभी तो राजा अज यह कह उठता है—करुणा-रहित क्रूर काल ने मुझसे मेरी प्रिया छीनकर मेरा तो सब-कुछ ही छीन लिया है, क्योंकि वही मेरी गृहिणी, सलाहकार, एकान्त का गहरा मित्र और कला सीखने में जो मेरी प्रिय शिष्या थी[2]।

हमारा जीवन बहुत अंशों में सामाजिक सम्बन्धों तथा उनसे प्राप्त होने वाले सहयोग पर आधारित है। इन सामाजिक रिश्तों और सहयोग के बिना जीवन की कल्पना करना भी कठिन है। इसलिए परिवार में से किसी विशेष के अकस्मात् बिछुड़ जाने पर आश्रितों का जीवन भी अन्धकारमय एवं धूमिल हो जाता है। वह वियोग तब केवल तड़पाने

---

१. विललाप स वाष्पगद्गदं सहजमपहाय धीरताम्।
अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु ॥८-४४॥

२. गृहिणी सचिवः सखा मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ॥८-६८॥

वाला ही नहीं, अपितु अनेक बार असह्य भी हो जाता है। इसी भावना का कुछ अंश सतीप्रथा के प्रचलित होने में एक कारण कहा जा सकता है। यतो हि भारतीय भावना के अनुसार पत्नी के लिए पति ही सर्वस्व तथा जीवन का आधार होता है। यदि किसी कारण से पति की पत्नी से पहले मृत्यु हो जाए तो पत्नी की दुनिया भी उजड़ जाती है। विधवाओं के साथ धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में जो दुर्व्यवहार पहले होता था, वह इसका जीता-जागता प्रमाण कहा जा सकता है। पुराने विचारों वालों के यहाँ आज भी कभी-कभार इसके उदाहरण सामने आ जाते हैं। कुछ अंशों में वैधव्य जीवन के अपमान और दुःखों को स्मरण करके पत्नी को जीने की अपेक्षा मरना अधिक सरल अनुभव होता होगा। इस स्थिति को स्पष्ट करने वाले अनेक उदाहरण भारतीय इतिहास में मिलते हैं।

भारतीय समाज में इस अवसर पर प्रचलित रोने के विशेष रिवाज तथा इस अवसर पर वृद्ध-अवस्था में भी पत्नी को दिए जाने वाले अनेक ताने, व्यंग्य विशेष चिन्तनीय बातें हैं। कई जगह ऐसा रिवाज है कि किसी के पति की मृत्यु पर विशेष रूप से नाइनें बुलाई जाती है। चाहे पत्नी की कितनी ही अधिक आयु क्यों न हो, पर उसके (वृद्ध) पति के उससे पहले मर जाने पर वह दुर्भाग्यशाली मानी जाती है। उसको तालाब आदि में खड़ा करके अन्य महिलायें किनारे पर खड़ी हो जाती हैं और नाइन उसको कोस-कोसकर जितना अधिक रुलाती है, उतना अधिक ही नाइन को पैसा मिलता है। कई स्थानों पर महिलायें महीनों फर्श पर बैठती और वास करती हैं तथा नित्यप्रति नियमित रुदन करती हैं। कई जगह ऐसा रिवाज है कि महिलायें विशेष वस्त्र धारण करके आमने-सामने खड़ी होकर माथा, छाती और जाँघों को (तीन ताल के रूप में) हाथों से पीटती हैं।

जून १९८४ के प्रथम सप्ताह कांगड़ा के समीपवर्ती एक ग्राम में जाने का अवसर प्राप्त हुआ। प्रातः पाँच बजे से पूर्व जब आँख खुली तो पास से जोर-जोर से रोने की आवाज सुनाई दी। प्रातःकाल का समय, उस पर पहाड़ी प्रदेश, कम-से-कम तीस मिनट तक यह करुण क्रन्दन गूँजता रहा। इस सम्बन्ध में अपने विद्यार्थी से पता चला कि दो दिन बाद इसके पति की मृत्यु को हुए एक वर्ष हो जाएगा। प्रतिदिन यह क्रम चलता है। महिला की आयु ६० वर्ष के लगभग होगी। इस अवसर पर रोने के कुछ विचित्र रूप को लिये हुए रिवाज का परिणाम अनेक रूपों में हमारे सामने आता है। स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ने अपनी आँखों

की कमजोरी का कारण इसी रिवाज को बताया है, क्योंकि जब वे गर्भ में थे तो उनकी माता को एक ऐसे ही रिवाज में सम्मिलित होना पड़ा था। रोने के रिवाज का यह विशेष बढ़ा हुआ रूप पारिवारिक जीवन और बच्चों के पालन-पोषण की दृष्टि से विशेष सोचने वाली बात है। वियोग की वेदना से दुःख और शोक के कारण रोना एक स्वाभाविक बात है तथा इससे दिल हल्का भी हो जाता है, पर रिवाज का विशेष रूप विशेष चिन्तनीय है। पुनरपि ऐसी विषम परिस्थितियों में भी कुछ भारतीय वीरांगनाओं ने जिस बुद्धिमत्ता और धैर्य का परिचय दिया, वह वस्तुतः इतिहास में अंकित करने योग्य है। ऐसी ही एक स्मरणीय घटना यहाँ प्रस्तुत करना अत्यन्त उपयुक्त होगा।

पिताजी ने एक बार बताया कि मैं कम-से-कम ऐसे सौ व्यक्तियों के दर्शन और साक्षात्कार करना चाहता हूँ, जिन्होंने एक सौ वर्ष की आयु पूर्ण कर ली हो। ऐसे दीर्घजीवियों के दर्शन करके यह जानना चाहता हूँ कि उनकी दृष्टि से सफल जीवन और लम्बी उम्र का क्या रहस्य है? तथा विषम-से-विषम परिस्थितियों में से उन्होंने अपनी जीवन-नौका को कैसे पार लगाया? अभी तक वे जितने भी व्यक्तियों से मिले हैं, उन सबके जीवन में सादा जीवन, शुद्ध आहार-विहार और शारीरिक श्रम का विशेष स्थान था और है। दीर्घजीवियों में से जिसके सबसे प्रथम दर्शन करने का अवसर उनको मिला, वह एक १०५ वर्ष की कर्मठ महिला थी।

अपनी जिज्ञासा की निवृत्ति के लिए पिताजी ने इस महिला से कुछ प्रश्न पूछे, जिनमें से एक यह भी था कि आपके इस लम्बे जीवन में कोई विशेष दुःखद घटना तो नहीं घटी? उस महान् महिला ने अपनी करुण कहानी को बताते हुए कहा कि मेरे जीवन में जो विशेष दुर्घटनायें घटी हैं, प्रभु से प्रार्थना है कि वैसी किसी के जीवन में भी न घटें। क्योंकि—

अभी मेरी आयु तीस वर्ष के आस-पास ही हुई थी कि मुझ पर एक-दम पहाड़ आ गिरा और मेरा सुहाग मुझसे छिन गया। भारतीय नारी के लिए इससे बड़ा दुर्भाग्य और क्या हो सकता है? और वह भी युवा-वस्था में! जब मेरी सारी दुनिया लुट गई, तो मैं दिन-भर धाड़ें मार-मारकर छाती-सिर पीट-पीटकर रोई, क्योंकि मुझे तब चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार दीख रहा था। उस पर इधर-उधर से आने वाली आवाजें आग पर घी का काम कर रही थीं। मैं जैसे-कैसे अपनी

---

१. श्री रामतीर्थ जी, घरौण्डा (करनाल, हरियाणा)।

जिन्दा लाश ढो रही थी और बार-बार भगवान् से मौत माँग रही थी। एक रात को थोड़ी देर बाद अचानक मेरी नींद खुल गई और विचार उभरा, अब रोने से वे लौटकर तो आयेंगे नहीं,[1] फिर रो-रोकर तू अपने अपने-आपको बेहाल क्यों कर रही है ? कुछ धैर्य कर ! इस तरह अपने-आपको अव्यवस्थित कर लेने से और धैर्य छोड़ देने से इन बच्चों का क्या होगा जिनकी अब सारी जिम्मेवारी तुझ अकेली के कन्धों पर ही आ गई है ? अब तो तुझ अकेली को ही इनके प्रति दोनों के कर्त्तव्य पूर्ण करने होंगे। क्या उनकी याद में बेचैन होकर उनकी इस अनमोल धरोहर के प्रति अधिक सजग होने की अपेक्षा केवल अपने-आपको ही प्रमुखता देगी ? तुझे अब इनके लिए जीना है, इनके प्रति दोनों के कर्त्तव्यों को एक-साथ निभाना है। इन विचारों ने मेरे सामने जीवन का एक नया रूप ला दिया। प्रातः उठी, रात को अकस्मात् उभरे विचारों ने मेरे लिए कर्त्तव्य-पथ निश्चित कर दिया था। जग-दिखाई के लिए रिवाज को हर स्थिति में पूर्ण करना था। पर दिमाग बार-बार सचेत कर रहा था कि कहीं अपने कर्त्तव्य को भूल न जाना ! समय बीतता गया और जैसे-कैसे मेहनत करके धरोहर के प्रति कर्त्तव्य निभाने के लिए मैं जुट गई। इस कर्त्तव्यपरायणता तथा समय ने धीरे-धीरे उस घाव को कुछ भर दिया। पर भविष्य को पूरी तरह से किसने जाना है !

बड़ा बेटा जब कुछ पढ़कर मेरा हाथ बटाने के योग्य हुआ तो मैंने सोचा, चलो इतनी अधिक साधना के बाद ही जैसे-कैसे मेरे काले बादल कुछ तो दूर हुए ! पर मेरी आशाओं का सहारा, आँखों का तारा, हृदय-कमल का वह सूर्य भी अकस्मात् एक दिन मुझे छोड़ गया। उसके मृत देह को देखकर में अपने रहे-सहे धैर्य को खो बैठी। अब तो मुझे पूरी तरह से चारों ओर अन्धेरा-ही-अन्धेरा दिखाई देने लगा। यह दूसरी (दुहरी) मार अब न सही जाती थी। वह एक और एक दो न बनकर अपितु १+१=११ ग्यारह बनकर बेचैन करने लगी। इस विह्वलता की स्थिति में रो-रोकर मैंने अपना बेहाल कर लिया। सब मुझे रोने से रोकते, धैर्य देते, पर मुझे दुनिया के सारे आश्वासन तथा सारी बातें

---

१. रुदता कुत एव सा पुनर्भवता नानुमतापि लभ्यते।
परलोकजुषां स्वकर्मभिर्गतयो भिन्नपथा हि देहिनाम्॥—रघुवंश ८-८६

मरनेवाले के पीछे मरकर भी कोई उसे प्राप्त नहीं कर सकता, रो-धोकर प्राप्त करने की तो बात ही क्या ? क्योंकि मरनेवाला अपने कर्मों के अनुसार न जाने अपनी किस राह पर होगा !

बिल्कुल बेकार प्रतीत होने लगीं। मैं बार-बार भगवान् से सिर पीट-पीटकर मौत माँगने लगी। इस बेचैनी के साथ पहली याद पुनः अत्यधिक रूप में ताजा हो गई और मुझे अब सब-कुछ निःसार लगने लगा।

इस विह्वलता में पहली दो रातें तो थोड़ी-सी ही नींद आई, पर अगली रात रोदन के श्रम, थकावट और पिछली रातों में नींद के न आने के कारण शरीर चूर-चूर हो गया और मुझे एकदम नींद आ गई। रात के पिछले पहर अकस्मात् मेरी नींद खुली, तब फिर मेरे मन में विचार उभरा, तूने तो पूरी तरह से धैर्य खो दिया है। क्या तेरे इस रोने-धोने से वह लौट आएगा?[1] अभी तो तेरे पास अपने प्रियतम की दो और भी अमानतें हैं। क्या इस तरह तू इस दुनिया में इनको ऐसे ही बेसहारा छोड़ जाएगी? ये किसके सहारे पनपेंगे? अपने लिए नहीं, तो कम-से-कम इनके लिए तुझे जैसे-कैसे जीना चाहिए।

इन विचारों ने एकदम पासा ही पलट दिया। रिवाजों को पूरा करते हुए जैसे-कैसे उन विधियों को पूर्ण किया। मन में बार-बार कौंधने वाले विचारों से प्रेरित होकर पुनः धैर्य जुटा, मैं जी-जान से धरोहर के विकास के लिए जुट गई। ये पहाड़ जैसी परीक्षायें, दुःख के बादल जैसे-कैसे मैंने पार किए। इन बच्चों के विकास को देखकर आज मुझे अपनी पूर्वस्थिति पर कुछ सन्तोष होता है। यह ठीक है कि मैं आज भी उन घावों को अपने हृदय में समेटे हुए हूँ; किसी भी प्रकार उनको भुलाना कठिन है, पुनरपि परिवार की यह प्रगति अब मुझे उतना बेचैन नहीं करती। कभी-कभी होठ बुदबुदा उठते हैं—

तू नहीं लेकिन तेरी उल्फत अभी तक दिल में है।
बुझ चुकी है शमा, फिर भी रोशनी महफिल में है॥

---

१. अधीरता में अस्त-व्यस्त हुओं को आश्वस्त करते हुए ही विष्णु शर्मा कवि ने कहा है—

मृत्योर्बिभेषि किं बाल ! न स भीतं विमुञ्चति।
अद्य वाब्द शतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः॥

—पंचतन्त्र १, श्लोक ४२३, पृ० ९०, मोतीलाल संस्करण

हे थोड़ा सोचने वाले ! मृत्यु से क्यों डरता है? यह तो डरनेवाले को भी नहीं छोड़ती, आज या (कुछ) सौ वर्ष बाद निश्चित रूप से हर प्राणी मृत्यु का ग्रास अवश्य ही बनेगा, क्योंकि—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।—गीता २-२६

वस्तुतः धैर्य और कर्त्तव्य की भावना ने मेरे जीवन को यहाँ तक पहुँचाने में पूरा सहयोग दिया है।

अपने प्रियजनों के वियोग पर शोक होना स्वाभाविक है, क्योंकि हमारा जीवन आपस के सम्बन्धों, सद्भाव और सहयोग पर निर्भर होता है तथा इसके साथ आपस की मधुर स्मृतियाँ जुड़ी हुई होती हैं जो भुलाए नहीं भूलतीं, तभी तो कहा जाता है—

दामन तो तेरा हाथ से जाता रहा।
मगर एक रिश्ता-ए-खयाल है, जो टूटता नहीं ।।

ये स्मृतियाँ चाहे कितनी ही प्रचण्ड हों, फिर भी इन परिस्थितियों में भी धैर्य ही एक सहारा होता है, इसके बिना और कोई चारा भी तो नहीं, क्योंकि वस्तुतः स्थिति तो यही होती है कि

तुम अब आ नहीं सकते,
तुम्हें अब हम पा नहीं सकते।

अतः धैर्य ही अब एक सहारा है, जीवन का इसी में निस्तारा है।

मृत्यु के सम्बन्ध में कुछ ऐसी स्थिति होने पर भी हम अपने मोह एवं स्वार्थवश अपने प्रियजनों के वियोग को दूसरे रूप में लेते हैं और तव वह वियोग हमें विकल, अधीर, बेचैन, निराश, हताश कर देता है, क्योंकि लम्बे समय तक हमने अपनों के साथ अनेकविध सुख-सुविधाएँ और उनसे स्नेह-सहयोग प्राप्त किया होता है। उन खट्टी-मीठी यादों को एकदम भुलाना कठिन होता है। उस स्थिति में हमें सर्वत्र अन्धेरा-ही-अन्धेरा दिखाई देता है और तब अनेकों को अपना जीवन ही बेकार लगता है।[1]

---

१. निराधारं धैर्य, कमिव शरणं यातु विनयः। क्षमः क्षान्ति वोढुं क्व इह विरता दानपरता। हतं सत्यं सत्यं, व्रजतु क्वाद्य करुणा? जगत् जातं शून्यं त्वयि तनय लोकान्तर् गते ।। ५, ३१ नागानन्द।

प्रित्य वत्स! तेरे बिछुड़ जाने पर यह सारा संसार अब मुझे डरावना, बेकार, अन्धकारमय और दुःखों का घर ही लगता है। तेरे न होने से अब मैं किसको देखकर धैर्य धारण करूँ? किसके प्रति स्नेह दर्शाऊँ? किसकी ढिठाई पर क्षमा दिखलाऊँ? किसके लिए सब-कुछ त्याग सकूँ और किस पर अपनी दया व्यक्त करूँ?

"वात्सल्य नाम का जो पुनीत स्नेह है, उसी का पोषण पुत्र द्वारा होता है। संसारी को त्याग, तितिक्षा या विराग होने के लिए पहला और सरल साधन पुत्र ही होता है। पुत्र को समस्त अधिकार देकर वीतराग हो जाने से असन्तोष नहीं होता, क्योंकि मनुष्य अपनी ही आत्मा का भाग उसे भी समझता है।"—अजातशत्रु, पृ० ३५

अपनों के मृतक देह को देखकर अनेक रो-रोकर अपना बुरा हाल कर लेते हैं और इतने हताश हो जाते हैं कि वे जीना ही नहीं चाहते और तब अपनी भी जान दे डालते हैं। इसके अनेक उदाहरण समाचार-पत्रों में पढ़ने और सुनने में प्राय: आते रहते हैं। कोई-कोई महिला सती के महत्त्व को मन में रखकर अपने सुहाग के लुट जाने पर एकदम इतनी अधिक बेचैन और हताश हो उठती है और अपने सामयिक दु:ख को इतना अधिक बढ़ा-चढ़ाकर देखती एवं अनुभव करतो है कि उसको अपने छोटे-छोटे बच्चों का भविष्य भी ध्यान में नहीं रहता कि पिता के चले जाने के बाद माता के भी उठ जाने से वे बच्चे अब किसके सहारे इतना लम्बा जीवन व्यतीत करेंगे ? और तब इस प्रकार की स्थिति का यह परिणाम होता है—

होशियारपुर की महावीर स्पिन्निग मिल में कुछ समय से श्रमिकों और प्रबन्धकों का विवाद चल रहा था। एक दिन इस विवाद ने उग्र रूप धारण कर लिया, जिससे श्रमिक हिंसा पर उतारू हो गए और २ मार्च १९८४ को ज्वालासिंह श्रमिक-प्रबन्धक आक्रमणकारियों के आक्रमण का शिकार हो गए। शव परीक्षण के पश्चात् घर पर पहुँचा। रात को मृतक देह घर पर ही था। एक-आध महिला को छोड़कर अन्य सब जब आश्वस्त होकर चले गए, या सो गए, तो ज्वालासिंह की पत्नी वहाँ से उठी तथा दूसरे कमरे में जाकर उसने अपने ऊपर तेल डालकर आग लगा ली। तब स्कूल में पढ़नेवाले बच्चों की सूनी-सूनी आँखें माँ-बाप के दुलार को प्राप्त करने के लिए चारों ओर निहारती ही रह गई और बूढ़े दादा-दादी इस असमञ्जस में पड़ गए कि उनके थके-हारे शरीर और टूटे दिल कितने दिन इन बच्चों को सहारा दे सकेंगे ?

यह एक प्राकृतिक नियम है कि हर बननेवाले का एक न एक दिन बिखराव होता है और पैदा होनेवाला कभी-न-कभी अवश्य ही मरता है। नदी के दो किनारों की तरह जन्म के साथ मरण का नित्य सम्बन्ध है। पुनरपि हम इस मरणधर्मा शरीर को प्राप्त करने के बाद भी विविध प्रकार से कल्पित अमरत्व की कल्पनाएँ करते हैं तथा इसकी प्राप्ति के लिए अनेक तरह के धार्मिक कर्मकाण्डों का आश्रय लेते हैं और इस प्रकार के कल्पित अमरत्व में भी सान्त्वना अनुभव करते हैं। इसीलिए मृत्यु के डर को योगदर्शनकार पतञ्जलि मुनि ने अभिनिवेश के नाम से स्मरण किया है, जबकि भौतिक शरीर के कारण मौत एक

अनिवार्य तत्त्व है।[1]

आत्मा के अजर-अमर होने पर भी रुदन, शोक एवं वियोग के दुःख की अनुभूति के कारण को समझने के लिए पहले पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में कुछ विचार करना हमारे लिए आवश्यक हो जाता है, क्योंकि अपनापन ही वियोग-वेदना का मुख्य कारण है। हाँ, आज पर्याप्त समय हो गया है, अब अगली बैठक में इस पर विचार करेंगे।

पाँचवीं बैठक

पारस्परिक सम्बन्धों का आधार—

विद्यार्थियों की परीक्षाएँ पूर्ण हो गई हैं और वे परिणाम की प्रतीक्षा में अवकाश का आनन्द ले रहे हैं। पिछले दिनों की थकावट दूर करते हुए पिछली नींद पूरी करने में लगे हुए हैं। इनसे भी अधिक माता-पिता प्रसन्न हैं—चलो, बच्चों का सारा साल तो बच गया, केवल दो मास का ही विलम्ब हुआ है (कई बार सुधार के लिए कष्ट-सहन और कुछ बलिदान करना आवश्यक हो जाता है; जैसे कि किसी गली में जब नाली और सड़क बनाई जाती है, तो पहले खुदाई के कारण गड्ढे पड़ जाते हैं, अतः आने-जाने में कुछ कष्ट होता ही है। गन्दगी हटाने के बाद ही सफाई होती है)। इस प्रसन्नता के वातावरण में युवक-युवतियों के झुण्ड भी आज आश्रम की ओर जा रहे हैं।

विशाल और विकास अपनी मित्रमण्डली के साथ भ्रमण के लिए चले। जब एक बाजार में अभी थोड़ी दूर ही गए थे, तब अनुराग ने कहा —बाजारों में तो हम रोज घूमते ही रहते हैं। आज कहीं निराली जगह चलना चाहिए। तभी अनुरोध ने अनुरोध किया—तो फिर बाई-पास की ओर चलो। बातें करती-करती मित्रमण्डली सेवाश्रम में

---

१. कः कं शक्तो रक्षितुं मृत्युकाले, रज्जूच्छेदे के घटं धारयन्ति।
एवं लोकस्तुल्यधर्मो वनानाम्, काले काले छिद्यते रुह्यते च॥

—स्वप्नवासवदत्ता ६-१०

मृत्यु के पंजे में पड़ जाने पर कौन किसको बचा सकता है? जैसे रस्सी के टूट जाने पर घड़े (जल निकालने के पात्र) को कोई भी बचा नहीं सकता। जैसे जंगल समय-समय पर उगते और कटते रहते हैं, वैसे ही मनुष्यों की स्थिति है कि वे भी पैदा होते और मरते रहते हैं।

प्रविष्ट हुई। कुछ देर आश्रम में घूमने के बाद मनुदेव ने कहा—यहाँ सफाई और व्यवस्था बहुत सुन्दर है। यहाँ के प्रबन्धक सामाजिक व्यक्ति प्रतीत होते हैं, अन्यथा अध्यात्म के नाम पर ऐसों की हर बात ही अव्यवस्थित होती है। इतने में अनुशासन ने साथियों से अनुरोध किया—चलो आज पहले यहाँ के प्रबन्धक से मिलते हैं। सर्वप्रिय जी के कमरे में पहुँचकर परस्पर परिचय और वार्तालाप प्रारम्भ हुआ। थोड़ी देर बाद सर्वप्रिय जी ने कहा—संयोग की बात है कि तुममें से अधिकतम साथी सामाजिक विज्ञान के विद्यार्थी हैं और आज के सत्संग में इसी विषय से जुड़े हुए 'पारस्परिक सम्बन्धों का आधार' पर चर्चा होगी। उसका समय हो गया है, अतः अब प्रांगण में चलते हैं।

संगीतप्रिय जी ने प्रथम भजन में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ पारिवारिक रिश्तों का सुखद चित्रण किया और दूसरे भजन में सामाजिक सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में विशेषतः मैत्री की मधुर स्मृतियों को उजागर किया। सर्वप्रिय जी ने प्रवचन को प्रारम्भ करते हुए कहा—संसार में कोई विरला ही ऐसा परिवार होगा, जिसको कभी वियोग-वेदना अनुभव न करनी पड़ी हो। वियोग-वेदना की अनुभूति प्रत्येक अपने-अपने ढंग से करता है। इसमें जहाँ रुचि और स्वभाव का भेद कारण होता है, वहाँ सबसे बड़ी बात अपनेपन की अनुभूति की होती है। जो व्यक्ति जिसके साथ जितना और जैसा अपनापन अनुभव करता है, वह परस्पर की सहानुभूति के आधार पर दुःख एवं क्लेश में उतनी ही वेदना अनुभव करता है।

हमारे पारस्परिक सम्बन्ध सर्वप्रथम पारिवारिक रूप में जुड़ते हैं और फिर एक-दूसरे के साथ रिश्ते-नाते के रूप में जाल का एक सुन्दर ताना-बाना प्रस्तुत करते हैं। इसके साथ फिर मित्रों का क्षेत्र फैलने लगता है, कुछ के साथ शिक्षा के समय तो कुछ से खेल के मैदान में या घर के अड़ोस-पड़ोस में मित्रता प्रारम्भ हो जाती है; कुछ मित्रों के मित्र के रूप में अपने मित्र बनते हैं तो कुछ के साथ धार्मिक, राजनैतिक समानता के आधार पर शनैः-शनैः मैत्री पक्की हो जाती है। हमारा आपस में तीसरा सम्बन्ध कारोबारी के रूप में जुड़ता है। कोई व्यक्ति जिस कार्यालय, कारखाने, उद्योग, व्यापार में कार्य करता है, वहाँ के सहयोगियों से सामान्य परिचय धीरे-धीरे प्रगाढ़ होने लगता है। इसके साथ हम अपनी जरूरत की चीजें जिनसे खरीदते हैं, जिन पड़ोसियों के आस-पास रहते हैं और जिनके साथ धार्मिक, राजनैतिक क्षेत्रों में परस्पर मिलते-जुलते हैं, उनसे हमारा सामान्य या विशेष पारस्परिक

सम्बन्ध होता है। ये ही हमारे अपने होते हैं, जिनसे अनेक रूपों में हम अपनापन अनुभव करते हैं।

पारस्परिक सम्बन्धों की रूपरेखा स्पष्ट हो जाने पर अब विशेष रूप से विचारणीय बात यह है कि हमारे ये सांसारिक सम्बन्ध क्या आत्मा से हैं या विनाशशील शरीर से हैं? यदि ये सम्बन्ध आत्मा से हैं तो फिर आत्माओं के नित्य होने से पारस्परिक सम्बन्ध भी नित्य ही होने चाहिएँ। यदि शरीर से हैं तो उसके नाशवान् होने से स्वतः अनित्य सिद्ध हो जाते हैं। इस दृष्टि से जब हम इस समस्या पर विचार करते हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे पारस्परिक सम्बन्ध नित्य आत्मा से नहीं हैं। यदि ये सम्बन्ध आत्मा से होते, तो फिर सदा नित्य ही होते, क्योंकि आत्मा अमर है। तब तो जिसका जिससे जैसा जो भी सम्बन्ध है, वह उसके साथ सदा उसी रूप में वैसे ही रहना चाहिए। उसमें किसी प्रकार का कभी भी कोई परिवर्तन नहीं आना चाहिए; फिर तो किसी परिवार और रिश्तों की संख्या समान ही चलनी चाहिए। तब परिवार-नियोजन की प्रक्रिया का किसी रूप में प्रभाव नहीं होना चाहिए। परन्तु शास्त्रों के प्रमाणों और पूर्वजन्म की सामने आनेवाली घटनाओं से यह अवगत होता है कि ये पारस्परिक सम्बन्ध सदा बदलते रहते हैं। तभी तो निरुक्तकार ने लिखा है—न जाने मैंने विविध योनियों में कितने माता-पिताओं के दर्शन किए हैं।[1] परस्पर नित्य सम्बन्ध मानने पर तो किसी का कभी भी मोक्ष सिद्ध ही न हो सकेगा, क्योंकि संसार में रहते हुए ही कोई पारस्परिक सम्बन्धों को निभा सकता है। तीसरी बात यह भी है कि नित्य सम्बन्ध मानने पर जीव के स्वतन्त्र कर्तृत्व पर भी आँच आती है, क्योंकि तब वह फिर किसी से मैत्री, विवाह-सम्बन्ध को स्वेच्छा से नहीं कर सकता। ऐसा मानने पर तब ऋ० १०-२७-१२ जैसे वाक्यों में प्रतिपादित स्वयं वरण का अवसर

---

१. मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः। नानायोनि सहस्राणि मयोषितानि यानि वै॥ आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः। मातरो विविधा दृष्टाः पितरः सुहृदस्तथा॥ १३-१ = मरकर मैं फिर पैदा हुआ और पैदा होकर फिर मरा, इस प्रकार हजारों योनियों में मैं भटका हूँ। इनमें अनेक तरह के पदार्थ खाए और अनेक तरह के स्तनों का पान किया। इन जन्मों में अनेक माता-पिता और मित्र बनाए।

गर्भोपनिषद में भी ऐसा वर्णन है—नानायोनिसहस्राणि दृष्ट्वा चैव ततो मया। आहारा विविधा भुक्ताः पीताश्च विविधाः स्तनाः॥

सिद्ध न हो सकेगा।[1] इस सम्वन्ध में विचारणीय चौथी बात यह भी है कि यदि एक आत्मा का दूसरी आत्मा के साथ आत्मिक सम्बन्ध है, तो सभी आत्माओं के एक-जैसा होने से एक की मृत्यु पर सभी एक-समान वियोग का दुःख अनुभव करें; परन्तुस्थिति ऐसी है नहीं। वियोग-दुःख की अनुभूति का प्रभाव केवल पारिवारिकों और परिचितों तक ही देखा जाता है और वह भी क्रमशः निकटता तथा अनुभूति के आधार से। हम प्रतिदिन दुनिया में देखते हैं कि जब कुछ वियोग के दुःख में असह्य वेदना अनुभव कर रहे होते हैं, तो कुछ उसी समय खुशी भी मना रहे होते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि हमारे ये सम्वन्ध आत्मा से नहीं हैं।

हमारे ये पारस्परिक सम्बन्ध तो क्या फिर शरीर से हैं? जब हम इस पहलू पर विचार करते हैं, तो यह दृष्टिकोण भी अधूरा ही प्रतीत होता है, क्योंकि यदि शरीरों के कारण ही ये पारस्परिक सम्बन्ध होते, तो फिर उनको इस सम्बन्ध के कारण अधिक से अधिक दिन तक जैसे-कैसे सम्भालकर रखने की ही दौड़धूप रहती। मरने पर मृतक देह को जैसे-कैसे सम्भालकर रखने पर भी उससे हमारा पारस्परिक सम्बन्ध का कोई भी व्यवहार सिद्ध न होने से भी, यही सिद्ध होता है कि शरीर से हमारा विशेष सम्वन्ध नहीं है। मृतक देह की सम्भाल के अनुपयोगी होने के कारण ही निकट से निकट के सम्वन्धी भी कहने के लिए विवश हो जाते हैं—जल्दी करो, अव तो यह सड़ने लग पड़ा है! इसीलिए शास्त्र मृतक देह को जलाने का विधान करते हैं[2] और इसको पुण्य का कार्य बताते हैं। भौतिक विज्ञान की कार्यपद्धति से यह प्रमाणित हो चुका है

---

१. भद्रा वधूर्भवति स्वयं सा वनुते जने चित्।=वह ही अच्छी वधू होती है, जो जनसमूह में से स्वयं वर का वरण करती है। स्वयंवरण से उसकी स्वतन्त्रता (कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं यः समर्थः स्वतन्त्रः=जिस किसी को स्वेच्छा से चुनना) सिद्ध होती है। स्वयंवरण से स्वतः यह सिद्ध हो जाता है कि पति-पत्नी का जन्म-जमान्तर का, या नित्य सम्बन्ध नहीं है। फिर इस आधार पर सती-प्रथा का समर्थन स्वतः अनुपयुक्त सिद्ध हो जाता है तथा विधुर-विधवा-विवाह का निषेध करना भी अनुपयुक्त है।

२. एतद्वै परमं तपो यं प्रेतमरण्यं हरन्ति। एतद् वै परमं तपो यं प्रेमावग्नावभ्यादधति॥ बृह० उप० ५-१२-१; भस्मान्तं शरीरम्। यजु० ४०-१५=शरीर का अन्त राख ही है। अतः जिस किसी भी आग से शव को भस्म करना चाहिए।

कि दबाने की अपेक्षा शवों का जलाना अधिक उपयुक्त है। जनसंख्या की वृद्धि के कारण भूमि की कमी की भी समस्या उभर रही है। अतः अन्न और आवास के लिए भूमि की बढ़ती हुई माँग को सामने रखते हुए बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता की अपेक्षा है कि दबाने के स्थान पर जलाने को प्रत्येक प्रकार से प्राथमिकता दी जाए। सर्दी के मौसम में ठण्डे देशों में शवों को प्रतीक्षा के रूप में पंक्तिवद्ध होना पड़ता है, क्योंकि एक तो भूमि की कमी, उस पर खुदाई में कठिनाई। अतएव अब वहाँ इसमें भी मंजिलों का सहारा लेना पड़ रहा है। अतः दबाने की अपेक्षा जलाना अधिक सरल और उपयुक्त है। पहले जलाने का एक ही प्रकार था, लकड़ियों का प्रयोग। पर अव रसोई में भी लकड़ियों के साथ कोयला, मिट्टी का तेल, गैस और बिजली का प्रयोग होने लगा है। शास्त्रों में लकड़ी, विद्युत् और सूर्य तीनों के लिए अग्नि शब्द का प्रयोग हुआ है और तीनों से अग्नि का कार्य सिद्ध होता है। अतः शरीर की भस्म लकड़ी की तरह बिजली से भी बन सकती है। लकड़ी की बढ़ती कीमतें और उसकी कमी तथा उसके अन्यत्र होने वाले प्रयोग भी यह संकेत करते हैं कि शवदाह के लिए बिजली का प्रयोग बिना झिझक करना चाहिए। दैनिक वीर प्रताप २५-६-८४ में प्रकाशित हुआ है कि विद्युत्-शवदाह-गृह दिल्ली में लकड़ी की अपेक्षा बिजली का बिल वहुत कम आता है।

महात्मा जी ने सभी श्रोताओं का ध्यान आकर्षित करते हुए कहा —इस विवेचन से जव यह स्पष्ट होता है कि हमारा पारस्परिक सम्बन्ध न तो आत्मा से और न ही शरीर से है, तब एक विवेकशील प्राणी होने के कारण यह और भी अधिक गहराई से सोचना आवश्यक हो जाता है कि वस्तुतः हमारे पारस्परिक सम्बन्धों का आधार क्या है?

जब हम खुले मन से इस पर विचार करते हैं, तो अन्त में इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि इस रहस्य को समझने के लिए जन्म और मृत्यु के रूप पर ध्यान देना होगा, क्योंकि किसी के जन्म के साथ उसके पारस्परिक सम्बन्ध प्रकाश में आते हैं। न्यायदर्शन के प्राचीनतम भाष्यकार महर्षि वात्स्यायन ने १-१-१९ सूत्र का भाष्य करते हुए

स्पष्ट संकेत किया है[1] कि नित्य आत्मा के किसी शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि आदि से जुड़ने का नाम जन्म और अमर आत्मा का पूर्वप्राप्त शरीर आदि से अलग होना ही मृत्यु है अर्थात आत्मा और शरीर आदि के पारस्परिक सम्बन्ध-असम्बन्ध का नाम ही जन्म और मृत्यु है। इसी जन्म-मरण की अजीव पहेली और शरीर तथा आत्मा के सम्बन्ध को समझाने का प्रयास कठ उपनिषद के तृतीय प्रश्न या वर में किया गया है। इसीलिए नचिकेता को आचार्य यम वहाँ बार-बार "एतद्वै तत्..." शब्दों द्वारा इसी समस्या का समाधान सुझाते हुए प्रतीत होते हैं।[2]

वस्तुतः आत्मा और शरीर आदि के सम्बन्ध[3] से ही हमारे पारस्परिक सम्बन्ध हैं, क्योंकि जब तक शरीर तथा आत्मा का सुसम्बन्ध रहता है, तभी तक उस सम्बन्ध से हमारे वे-वे सम्बन्ध जुड़े रहते हैं। इनका जब आपसी सम्बन्ध टूट जाता है और उस सम्बन्ध के टूट जाने पर उस सम्बन्ध से जुड़े हुए सम्बन्धियों के सम्बन्ध भी तब स्वतः टूट जाते हैं। अतः हमारे पारस्परिक विविध सम्बन्धों का न तो केवल शरीर से सम्बन्ध है और न ही आत्मा से, अपितु इन दोनों के सम्बन्ध से ही हमारा सम्बन्ध है और इन दोनों के सम्बन्ध के टूट जाने पर सारे सम्बन्ध भी तब स्वतः टूट जाते हैं।

---

१. पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः १-१-१९—उत्पन्नस्य क्वचित्सत्त्वनिकाये मृत्वा या पुनरुत्पत्तिः स प्रेत्यभावः। उत्पन्नस्य सम्बद्धस्य। सम्बन्धस्तु देहेन्द्रियबुद्धिवेदनाभिः पुनरुत्पत्तिः पुनर्देहादिभिः सम्बन्धः। पुनरित्यभ्यासाभिधानं यत्र क्वचित् प्राणभृन्निकाये वर्तमानः पूर्वोपात्तान्देहादीन् जहाति तत्प्रैति। यत्र तत्रान्यत्र वा देहादीनन्यानुपादत्ते तद् भवति। प्रेत्यभावो मृत्वा पुनर्जन्म, सोऽयं जन्ममरणप्रबन्धाभ्यासोऽनादिरपवर्गान्तः प्रेत्यभावो वेदितव्यः। १-१-२ सूत्र के भाष्य में यही भाव इन शब्दों में है—तत्त्वज्ञानं तु···प्रेत्यभावे खलु अस्ति जन्तुर्जीवः सत्त्व आत्मा वा, यः प्रेत्य भवेदिति, निमित्तवज्जन्म, निमित्तवान् जन्मोपरमः, इत्यनादिः प्रेत्यभावोऽपवर्गान्त इति, नैमित्तिकः सन् प्रेत्यभावः प्रवृत्तिनिमित्त इति, सात्मकः सन् देहेन्द्रियबुद्धिवेदनासन्तानोच्छेदप्रतिसन्धानाभ्यां प्रवर्तते इति।

२. इसके विस्तार के लिए 'परिषद् पत्रिका' पटना के अप्रैल १९७५ के अंक में 'कठोपनिषद् का एक अध्ययन' देखिए।

३. आज जिस स्थिति में हम हैं, उसमें हम अपनी इन्द्रियों से चीजों को व्यवहार में लाते हैं, भोगते हैं। अतः हमारा स्वरूप भोक्ता के रूप में है। इसके विस्तार के लिए 'सुखी कैसे रहें?' का 'मैं कौन हूँ?' प्रकरण देखिए।

सम्भवतः इसी रहस्य को समझाने के लिए कभी यह रिवाज चला होगा, चाहे इसकी मूलभावना आज विस्मृत हो गई है। अधिकतर लोग जब किसी मृतक देह को श्मशान (शरीर जिसमें सोते हैं) भूमि में ले जाते हैं, तो रास्ते में एक निश्चित स्थान पर उस मृतक देह को रखते हैं। तब मृतक का (ज्येष्ठ) पुत्र स्वयं या घर के निकटवर्ती रिश्तेदार द्वारा लाए गए जल से भरे घड़े को लेकर मृतक के चारों ओर जल को एक या तीन बार छिड़ककर मृतक के सिर के पास जोर से घट को पटक देता है। सम्भवतः इसका अभिप्राय यह है कि जब तक घट के हिस्से आपस में जुड़े हुए थे, तभी तक ही घट अपने सारे व्यवहार करता था। चाहे उसमें जल डालो या तेल या घी आदि कुछ भी डालो, वह उस-उसको संभालता है। पर घट के टुकड़े-टुकड़े होते ही घट से कोई भी व्यवहार नहीं हो सकता।

ठीक ऐसे ही जब तक शरीर और आत्मा का सम्बन्ध रहता है, तभी तक सारे सम्बन्ध जुड़े रहते हैं और उस सम्बन्ध के टूटते ही सभी सांसारिक सम्बन्ध तब स्वतः टूट जाते हैं। इसीलिए कुछ श्मशान-भूमि से लौटते हुए एक स्थान पर बैठकर भूमि से तिनके लेते हैं और तब खड़े होकर और फिर उन तिनकों को तोड़कर अपने पीछे फेंक देते हैं। इसका भाव यही है कि इस आत्मा और शरीर से हमारा जो सम्बन्ध जुड़ा था, वह अब टूट गया है।

तभी तो कहा है—'रिश्ते-नाते तोड़ चला यह।'

छठी बैठक

आत्मा की सत्ता—

पहले की तरह आज भी आश्रम में पर्याप्त जनता है। संगीतप्रिय जी माधुर्यभरी संगीतलहरी आरम्भ करते हैं। प्रथम गीत में संसार के अद्भुत रूप का चित्र प्रस्तुत करते हैं और दूसरे गीत में आत्मा की चर्चा करते हैं। सर्वप्रिय जी मंच पर बैठते हुए श्रोताओं का ध्यान पिछली चर्चा की ओर ले-जाकर बताते हैं—आप सबको स्मरण होगा कि चौथी बैठक में निकष ने अपनी जिज्ञासा को सामने रखकर कहा था कि जब आत्मा अमर है तो उसकी मृत्यु सिद्ध नहीं होती और फिर न ही उसके लिए शोक का सवाल सामने आता है। अतः इस जिज्ञासा को ध्यान में रखकर चौथी बैठक में हमने पहले शोक की स्थिति पर

और फिर पाँचवीं बैठक में पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर विचार किया था। आज आत्मा की सत्ता पर विचार करते हैं।

आत्म-महिमा—हम प्रतिदिन अपने व्यवहार की सिद्धि के लिए शरीर, मन और आत्मा का उपयोग करते हैं। शरीर विशेष रूप से ज्ञान तथा कर्म-इन्द्रियों का समुच्चय है। बाह्य व्यवहार की सिद्धि के लिए हम रसना, चक्षु, श्रोत्र, त्वक् और घ्राण (नासिका) रूपी ज्ञान-इन्द्रियों और हाथ, पैर, वाणी, पायु, उपस्थ सदृश कर्म-इन्द्रियों को साधन बनाते हैं। जिस प्रकार हमारे देखने-सुनने आदि के बाह्य व्यवहार किसी-न-किसी बाह्य इन्द्रिय की सहायता से ही होते हैं, उसी प्रकार हमारे सोचने, याद करने आदि के आन्तरिक व्यवहारों की सिद्धि के लिए भी कुछ साधन हैं जिनको अन्तःकरण-(अन्दर की इन्द्रिय)-चतुष्टय के नाम से स्मरण करते हैं और वे हैं मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार। किसी विषय के विविध पहलुओं पर ऊहा-पोह करना, सोचना मन का काम है। किसी समस्या या बात का निर्णय बुद्धि करती है। सारी याद की हुई बातें चित्त में रहती हैं और मैं, मेरेपन की भावना, अपनत्व को जताने वाला अहंकार कहलाता है। कई बार सारा अन्तःकरण केवल मन के नाम से भी पुकारा जाता है। शरीर और मन जिसकी चेतना से कार्य करते हैं, वही आत्मा है और वह ही हमारे शरीर एवं मन का अधिष्ठाता, नेता, संचालक है, जैसे बिजली से बल्ब, ट्यूब, पंखे, कूलर, रेडियो, दूरदर्शन आदि यन्त्र कार्य करते हैं।

बृहदारण्यक उपनिषद् (२-४ और पुनः ४-५) में महर्षि याज्ञवल्क्य और उनकी पत्नी मैत्रेयी का संवाद आता है, जिसमें आत्मा की महत्ता अमृत शब्द से दर्शाई गई है। यह वर्णन आत्मा की महिमा को समझने के लिए बहुत उपयोगी है। यहाँ बताया गया है कि एक बार महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी से कहा—देखो! मैं इसी गृहस्थाश्रम में पड़े रहना नहीं चाहता, मैं उन्नत होना चाहता हूँ। आओ! तुम्हारा कात्यायनी से निपटारा करा दूँ।

मैत्रेयी ने कहा—भगवन्! अगर वित्त से भरी हुई यह सारी पृथिवी मेरी हो जाए, तो क्या मैं उससे अमर हो जाऊँगी—'कथं तेन अमृता स्याम्'? याज्ञवल्क्य ने कहा—नहीं, उस अवस्था में धनवालों का जैसा सुखी जीवन होता है, वैसा ही तेरा भी होगा। पर धन-धान्य से अमरता की आशा नहीं की जा सकती—'अमृतस्य तु नाशास्ति वित्तेन।'

मैत्रेयी ने कहा—जिससे मैं अमर न हो सकूँ उसे लेकर मैं क्या करूँ—'येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्?' भगवन्! अमर होने का जो

रहस्य आप जानते हो, मुझे तो उसी का उपदेश दीजिए। याज्ञवल्क्य ने कहा—तू तो मेरी प्रिय है और प्रिय बातें कर रही है। आ, बैठ, मैं तुझे सब स्पष्ट समझाता हूँ, तू ध्यान से सुन !

प्रिये ! पति, पत्नी, पुत्र, वित्त आदि अपनो चाहना के लिए प्रिय होते हैं, उनकी (अपनी-अपनी) दृष्टि से नहीं। अपने आत्मा की कामना के लिए ये सब प्रिय होते हैं। जिस आत्मा के लिए यह सब प्रिय होता है, प्रिये ! वह आत्मा ही तो द्रष्टव्य है, श्रोतव्य है और वही मनन के योग्य है तथा निदिध्यासितव्य है। उसी को देख, उसी को सुन, उसो को जान, उसी का ध्यान कर। प्रिय मैत्रेयी ! आत्मा के ही देखने, सुनने, समझने और जानने से सब (अध्यात्म-सम्बन्धी) गाँठें खुल जाती हैं।

आत्मसत्ता—

भारतीय दर्शनों में से न्याय (गौतम), वैशेषिक (कणाद) और सांख्य (कपिल) दर्शनकारों ने प्रसंगवश विविध युक्तियों से प्रत्येक शरीर में रहनेवाले आत्मा की सत्ता पर विचार किया है और सप्रमाण प्रतिपादित किया है कि चेतन, नित्य, ज्ञानवान् आत्मा शरीर, इन्द्रिय और मन से बिल्कुल भिन्न है। वैशेषिक दर्शन के प्राचीन व्याख्याता प्रशस्त देव के प्रशस्त-पाद में अनेक उदाहरणों के साथ इसका काफी रोचक विवेचन मिलता है, जिससे सिद्ध होता है कि आत्मा की स्वतंत्र सत्ता है और वह ही शरीर, इन्द्रिय तथा मन का नियामक, अधिष्ठाता है। जैसे कि संसार में सर्वत्र देखा जाता है कि एक कारीगर अपने औजारों को सहायता से अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करता है। औजार अपने-आप कोई कार्य नहीं करता; औजार कार्य करने में केवल सहायक बनते हैं, जिनसे कर्ता अपने कार्य को करता है। ऐसे ही हमारे शरीर में इन्द्रियों की औजारों के समान ही स्थिति है। शरीर में रहनेवाला ज्ञानवान् आत्मा इन इन्द्रियों को औजारों की तरह वर्तकर अपने इच्छित कार्य को साधता है।

जैसे किसी यान का चालक अपनी इच्छानुसार इच्छित दिशा में प्रिय की प्राप्ति और अप्रिय की निवृत्ति के लिए यान को चलाता है, ऐसे ही अपनी इच्छानुसार अनुकूल की प्राप्ति और प्रतिकूल को दूर करने के लिए प्रत्येक देह में उसका चेतन चालक (आत्मा) विविध कार्य-साधनार्थ शरीररूपी यान को चलाता हुआ प्रतीत होता है। जैसे कि एक लुहार अपनी धौंकनी से वायु लेता और छोड़ता है, ठीक ऐसे ही शरीर में रहनेवाला नित्य आत्मा अपनी नासिकारूपी भस्त्रा से बाहर की

स्वच्छ वायु को लेता और अस्वच्छ को बाहर निकालता है। जैसे कोई अपने यन्त्र को प्रयोग में लाता है, ऐसे ही शरीर में रहनेवाला उसका मालिक अपने शरीर-यन्त्र का प्रयोग करते हुए कभी आँख खोलने और कभी बन्द करने का कार्य करता है। जैसे एक घर का स्वामी अपने गृह की अपेक्षित मुरम्मत एवं बढ़ोतरी करता है, ठीक ऐसे ही शरीर में रहनेवाला शरीररूपी भवन का स्वामी अपने शरीर की टुट-भज (क्षत-विक्षत) की पूर्ति और वृद्धि के लिए सदा प्रयत्न करता है।

जैसे एक बालक एक स्थान पर बैठा हुआ अपने खिलौनों को इधर-उधर दौड़ाता है, ऐसे ही शरीर का प्रेरक आत्मा अपने मन द्वारा इन्द्रियों को इच्छित कार्यों में लगाता है। जैसे कोई चौबारे में बैठा हुआ कभी किसी खिड़की से देखता है, कभी किसी से, फिर एक खिड़की से देखे हुए व्यक्ति को दूसरी खिड़की से पुकारता है, ऐसे ही अपने देह का अधिष्ठाता ज्ञानी आत्मा पहले आँख से किसी फल या मिठाई को देखता है और फिर साथ ही उसकी जीभ में पानी भर आता है। इससे सिद्ध होता है कि इन दोनों इन्द्रियों से अलग कोई एक आत्मा है, तभी तो अपने इस समय देखे हुए के अनुसार पूर्व देखे हुए का स्मरण करता है और उससे उसकी जीभ में पानी भर आता है। अन्यथा एक के देखे हुए का दूसरे को स्मरण नहीं होना चाहिए अर्थात् यदि आँख और जीभ पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र हों तो एक के आधार पर दूसरे पर प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए। अतः यह एक सर्वसिद्ध बात है कि हम सबके शरीर, इन्द्रिय और मन का नेता एक आत्मा ही है, जोकि नित्य है और सबका अलग-अलग है।

इस विवेचन के पश्चात् सबका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हुए महात्मा जी ने कहा—यदि प्रत्येक अपने प्रतिदिन के अनुभव पर विचार करे, तो वह कह सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति का शरीर पहले बाल्य अवस्था में होता है और फिर युवा अवस्था में और फिर अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार एक-न-एक दिन वृद्ध अवस्था की ओर ढलने लगता है। इस प्रकार देह में अनेक तरह के परिवर्तन आते हैं। पर इन परिवर्तनों के बीच में एक ऐसी सत्ता भी अनुभव में आती है, जो अपरिवर्तनशील है, जिसके कारण इन भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भी 'यह वही है' - 'यह वही है' की पहचान होती है। इसी प्रकार प्रत्येक अपने मानसिक परिवर्तनों के मध्य में अपनी सत्ता को अपरिवर्तित रूप में अनुभव करता है। अपनी तरह दूसरे व्यक्तियों में भी वैसी ही अपरिवर्तनशील सत्ता निःसन्दिग्ध रूप में सिद्ध होती है, क्योंकि अपनी

जैसी स्थिति, अनुभूति वहाँ भी प्रतीत होती है। एक विचारशील स्वाभाविक रूप से ऐसी स्थिति में सोचने पर विवश होता है कि ऐसी कोई सत्ता है, जो स्वयं निर्विकार रहते हुए भी इन शारीरिक और मानसिक विकारों, परिवर्तनों को अनुभव करती है। इन अस्थिर अवस्थाओं के मध्य में एक स्थिर आत्मा को स्वीकार किए बिना हमारा अनुभव अधूरा ही रहता है। स्थिर आत्मा ही अपने से सम्बद्ध परिवर्तनशील पदार्थों की पृथक्ता, परिवर्तनशीलता को अनुभव करते हुए भी अपनी स्थिरता एवं एकता बनाए रखता है। चाहे उसके स्वरूप और नाम के सम्बन्ध में विचारशीलों में कुछ मतभेद हों, पर उसकी सत्ता को सभी स्वीकार करते हैं। चाहे यह सारी चर्चा हमारे प्रतिदिन के जीवन से जुड़ी हुई है, फिर भी कुछ गहराई से विचारने योग्य है। अतः आज की बैठक को संगीतप्रिय जी के एक मधुर गीत के साथ सम्पन्न करते हैं। हाँ, अगली बैठक में आत्मा के स्वरूप पर विचार करेंगे।

सातवीं बैठक

आत्मा का स्वरूप—

संगीतप्रिय जी ने आज जब सस्वर संगीत प्रस्तुत किया, तो सभी आत्मविभोर हो गए। उसके बाद महात्माजी ने कथा को प्रारम्भ करते हुए कहा—जिस भी वस्तु की सत्ता होती है, उसका अपना कुछ-न-कुछ स्वरूप भी अवश्य होता है। यहाँ प्रकरण के अनुसार आत्मा शब्द से केवल जीव का ही ग्रहण किया जाएगा। वैसे संस्कृत भाषा की यह एक बहुत बड़ी विशेषता है कि उसके शब्द अपना परिचय बहुत-कुछ स्वयं भी करा देते हैं। आत्मा शब्द सदा गतिशील रहना अर्थ वाली अत् (सातत्यगमने) धातु से बनता है, अतः आत्मा शब्द का भाव है कि यह सदा गतिशील रहती है, इसमें कभी विकार नहीं आता। इसलिए यह अपने कर्मों के अनुरूप एक के बाद एक शरीर को धारण करती रहती है। अतः हमारी आत्मा अजर-अमर और नित्य है।

भारतीय शास्त्रों में जहाँ परमात्मा और प्रकृति से बने संसार का वर्णन मिलता है, वहाँ इस संसार में विचरण करनेवाले, संसार की वस्तुओं को व्यवहार में लानेवाले आत्मा का भी विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। वेद के एक मन्त्र में आता है कि यह अमर आत्मा अपने कर्मों

के अनुसार नष्ट होनेवाले अच्छे-हल्के अनेक तरह के शरीरों को धारण करता है।[1] जीवात्मा वायु की तरह गतिशील और सड़ना, गलना, कटना, सूखना आदि भौतिक विकारों से रहित[2] एवं नित्य है। इसी भाव को और स्पष्ट करते हुए कठ उपनिषद् में कहा है कि हम सबकी नित्य आत्मा न कभी पैदा होती है और न ही मरती है, अर्थात् सदा एकरस रहती है। न ही यह किसी से बनती है और न ही कोई कार्य इससे प्रकट होता है, अर्थात् यह किसी कार्य का उपादानकारण नहीं है। यह न जाने कितने अनन्त समय से चली आ रही है। यह अमर आत्मा शरीर के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होती।[3] इसी का समर्थन गीताकार ने भी किया है[4]—इस बात को और आगे बढ़ाते हुए कहा है कि इस नित्य आत्मा के शरीर अनेक प्रकार से विनष्ट होते हैं[5], पर इस आत्मा को न तो किसी प्रकार का कोई हथियार काट सकता है, न ही कोई आग जला सकती है, न जल गला सकता है और न ही वायु सुखा सकता है।[6] अतः यह अजर-अमर आत्मा हर तरह से कटने, जलने, गलने और सूखने योग्य नहीं है और यह नित्य, एकरूप तथा सदा रहने वाली है।

शरीर, इन्द्रियों के अधिष्ठाता आत्मा के स्वरूप को समझाने के लिए छान्दोग्योपनिषद् में इन्द्र, विरोचन और प्रजापति सम्बन्धी एक बड़ा रोचक आख्यान आता है कि "हृदय आकाश में जिस आत्मा का वास है, वह पाप, बुढ़ापा, मृत्यु, भूख-प्यास से रहित और सत्यकाम, सत्यसंकल्प रूप है। उसी की खोज करनी चाहिए, उसी को जानना चाहिए, क्योंकि उसको जानने से सब लोकों तथा सब कामनाओं की

---

१. अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येन सयोनिः।
—ऋ० १-१६४-३; अ० ९-१०-१६

२. वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।—यजु० ४०-१५

३. न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥१-२-२४॥

४. न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥२-२०॥

५. अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः॥२-१८॥

६. नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥२-२३॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥२-२४॥

प्राप्ति हो जाती है।" प्रजापति की इस घोषणा को सुनकर देवों में से इन्द्र और असुरों में से विरोचन प्रजापति के पास आए। प्रजापति ने पूछा, किस इच्छा से तुम यहाँ आए हो ? उन्होंने कहा कि हम आपकी घोषणा के अनुरूप अमृत-अभय आत्मा को जानना चाहते हैं।

प्रजापति ने कहा, यह जो आँख में पुरुष (चित्र) दीखता है, यह आत्मा है, जोकि अमृत और अभय है। जो जल, दर्पण में दीखता है वह भी वही आत्मा है जोकि सामनेवाले की आँख में दिखाई देता है। प्रजापति ने दोनों को आदेश देते हुए कहा—पानी के वर्तन या शीशे में देखो, यदि आत्मा के विषय में कुछ स्पष्ट समझ न आए तो फिर मुझसे पूछ लेना। प्रजापति के कथन के अनुसार इन्द्र और विरोचन ने पानी के वर्तन में देखा और तब लोम से नख तक अपने प्रतिरूप (छाया) को देखा। तदनन्तर प्रजापति के कथनानुसार सुन्दर अलंकार, वस्त्र धारण करके पुनः देखा। तब पुनः वहाँ सुन्दर अलंकार, वस्त्रयुक्त अपने प्रतिबिम्ब को देखा। इस प्रकार जाग्रत अवस्था में दिखाई देने वाले अपने वाह्य रूप को ही आत्मा अनुभव करके वहाँ से दोनों चले गए। विरोचन ने असुरों को जाकर यही कहा कि देह ही आत्मा है, इसी देहरूप आत्मा की ही पूजा करनी चाहिए; इससे मनुष्य दोनों लोकों को प्राप्त कर लेता है। अतः वे सब शरीर को ही सब-कुछ समझने लगे। इन्द्र ने जब इस पर गहराई से विचार किया, तो उसको इतने से सन्तोष न हुआ और वह सोचने लगा कि यह प्रतिबिम्ब शरीर के अलंकृत होने पर अलंकृत, सुवस्त्र से सुवस्त्रमय, शरीर के अन्धे, काणे, लंगड़े होने पर प्रतिबिम्ब भी वैसा ही हो जाता है। अतः आत्मा का यह रूप तो घोषणानुकूल न होने से अकल्याणकारक ही है।

पुनः प्रजापति के चरणों में उपस्थित होकर इन्द्र ने प्रार्थना की कि जल या दर्पण वाले प्रतिबिम्ब को आत्मा मानने पर तो उपर्युक्त दोष आते हैं। तब प्रजापति ने कहा कि तूने ठीक ही विचार किया है। हाँ, स्वप्नावस्था में महिमाशाली होकर जो विचरता है, वही आत्मा है।

इन्द्र ने जब स्वप्न अवस्था पर पूरी तरह से विचार किया, तो यह परिणाम सामने आया कि यद्यपि शरीर वाले दोष तो यहाँ दिखाई नहीं देते, पर स्वप्न में ऐसा प्रतीत होता है कि कोई इसको मार रहा है, कोई इसका पीछा कर रहा है। स्वप्न में अप्रिय अनुभव भी होते हैं। कभी-कभी रोने भी लगता है। अतः यह रूप भी घोषणा के अनुरूप न होने से कल्याणकर नहीं है। इसलिए प्रजापति के पास जाकर पुनः इन्द्र ने यह शंका रखी। प्रजापति ने इन्द्र को लक्ष्य की ओर कुछ बढ़ते

हुए अनुभव करके कहा कि सुषुप्तावस्था में जिस रूप की झाँकी दीखती है, वही आत्मा है, जो कि अमृत और अभय है।

इन्द्र ने जब सुषुप्ति अवस्था पर अच्छी तरह विचार किया, तो यह निष्कर्ष सामने आया कि यहाँ पहले वाले शारीरिक, मानसिक दोष तो नहीं हैं, पर इस (सुषुप्त) अवस्था में यह अपने-आपको ही नहीं जानता कि मेरा रूप यह है और न ही पञ्चभूतों के विषय में कुछ जानता है। इस अवस्था में तो वह नाश (अभाव, अज्ञान) में ही लीन हो जाता है। अतः घोषणा के अनुकूल आत्मा का यह रूप भी नहीं है। जब इस संशय को प्रजापति के सम्मुख रखा कि इस रूप में पूर्वोक्त दोनों प्रकार के दोष तो नहीं हैं, पर यहाँ ये दोष हैं। तब प्रजापति ने आत्मा के स्वरूप को समझाते हुए कहा कि यह शरीर मरणधर्मा है, अमृतरूप अशरीरी आत्मा का यह शरीर अधिष्ठान है। आत्मा स्वभाव से अशरीरी होता हुआ भी जब इस शरीर के साथ अपने-आपको एकरूप समझता है, तब उसके साथ सुख-दुःख लग जाता है। वायु, अभ्र, विद्युत्-गर्जना की तरह आत्मा अशरीरी होता हुआ भी इनकी तरह निमित्त के संयोग से इस अवस्था में प्रतीत होता है।

जैसे रथ के साथ घोड़ा जुता होता है, वैसे ही यह आत्मा इस शरीर-रूपी रथ के साथ जुता हुआ है। वह स्वयं शरीर नहीं है। वह ही आँख, श्रोत्र, नासिका, वाणी के साधनों से तद्-तद् व्यवहारों को साधता है। चक्षु, मन आदि देखने के साधन हैं; जो इनसे देखने आदि के व्यवहार करता है, वही आत्मा है।[1]

इस सारे प्रकरण का भाव यह है कि कुछ व्यक्ति स्थूल दृष्टि से सोचने के कारण शरीर को ही आत्मा मानते हैं। पर यह शरीर तो प्रिय-अप्रिय से जुड़ता-बिछुड़ता है, रोग-शोक तथा मृत्यु से ग्रस्त होता है। यह देह तो केवल अशरीरी आत्मा का अधिष्ठानमात्र है, क्योंकि आत्मा नित्य, अभय, शुद्ध, पवित्र तथा ज्ञानस्वरूप है। शरीर द्वारा सम्पन्न होने वाली विविध क्रियाओं, इच्छाओं तथा सुख-दुःख आदि का निमित्त आत्मा है और शरीर इनका अधिष्ठान मात्र है। ऐसे ही कुछ व्यक्ति स्वप्न अवस्था (मनोमय) के कर्ता-धर्ता मन को आत्मा मानते हैं। कुछ सुषुप्ति अवस्था की स्थिति को आत्मा समझते हैं। परन्तु जाग्रत—स्वप्न—सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं से भिन्न (तुरीय) अवस्था वाला ही आत्मा है और उसी में आत्मा के लक्षण चरितार्थ होते हैं।

१. यह छान्दोग्य ८-८-१२ का संक्षिप्त रूप है।

अतः उपनिषद् के ऋषि की धारणा के अनुसार आत्मा पाप से निर्लिप्त, जरा से मुक्त, मृत्यु से निर्मुक्त, भूख-प्यास से रहित, नित्य-अमृत-अभय और ज्ञानस्वरूप है।

आज के प्रवचन को पूर्ण करते हुए महात्मा जी ने कहा—वस्तुतः यह चर्चा बहुत ही सूक्ष्म और गम्भीर है। शास्त्रों में इसका विशद वर्णन मिलता है, पर यह चर्चा की अपेक्षा अनुभव का विषय है, अतः इसकी अधिक चर्चा न करते हुए प्रत्येक विचारशील को इसका मनन करना चाहिए। इसकी केवल चर्चा एवं अध्ययन में व्यस्त रहना अधिक लाभप्रद नहीं है। तभी तो उपनिषद् के ऋषि ने कहा है – बहुत अधिक शब्दों के चक्र में नहीं पड़ना चाहिए; ऐसा करना तो केवल वाणी का व्यायाम ही है।[1] हाँ, आत्मा का स्वरूप अपना आपा है, अतः इसका दर्शनों और उपनिपदों के आधार पर अनुभव करना चाहिए।

आठवीं बैठक

परिवर्तनशील संसार—

सेवाश्रम की समीपवर्ती सड़क पर प्रातः भ्रमण करते हुए कुछ वृद्ध परस्पर बातें कर रहे हैं। उनमें से ज्ञानदेव ने कहा, वैसे तो बहुत वर्षों से मैं विविध विद्वानों और महात्माओं के विचार सुन रहा हूँ। अपनी उम्र में काफी दुनिया देखी है। न जाने इतने समय में काल के प्रवाह से कितने परिवर्तन आए। अतः पिछले सत्संगों और लम्बे जीवन के अनुभवों के कारण अब सेवाश्रम की बैठकों में बहुत आनन्द आता है। अपना तो दिल करता है, ये सत्संग प्रतिदिन हों, तो क्या ही आनन्द आए ! मैं तो बड़ी उत्सुकता से इस दिन की प्रतीक्षा करता हूँ। तभी आनन्ददेव ने कहा—आपने तो मेरे मुँह की बात छीन ली है। मुझे विद्यार्थी अवस्था से ही पढ़ने का शौक रहा है। सर्वप्रिय जी के प्रवचनों से सारे शास्त्रों की बातें जितनी अब समझ आती हैं, इतनी पहले नहीं आती थीं। यदि मैंने इतना अध्ययन न किया होता, तो इन प्रवचनों का इतना आनन्द न आता। प्रवचन सुनते हुए मन इतना आनन्द-विभोर हो जाता है और कहता है, इतना अधिक पढ़ने का लाभ मिल रहा है।

---

१. नानुध्यायाद् बहून् शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्।—बृहदारण्यक ४-४-२१

वातचीत को आगे वढ़ाते हुए सत्यदेव ने कहा—सचाई तो यह है कि जीवन के लम्वे अनुभवों और वृद्ध अवस्था के विचारों से जन्म-मरण की यह उलझन अपनी ही कहानी लगती है। अच्छा फिर आज की बैठक में हम सब इकट्ठे ही चलेंगे। सायंकाल निश्चित समय पर वृद्ध-मण्डली एकत्रित हुई और दल-बल के साथ आश्रम में सबसे पहले पहुँचकर आगे ही बैठ गई। संगीतप्रिय जी के साथ सभी श्रोताओं ने पहले सामूहिक भजन का आनन्द लिया और फिर निम्न पंक्तियों का श्रवण किया—

है बहारे-बागे-दुनिया चन्द रोज,
देख लो इसका तमाशा चन्द रोज।
ऐ मुसाफिर कूच का सामान कर,
इस जहाँ में है बसेरा चन्द रोज।
पूछा लुकमाँ से जिया तू कितने रोज,
दस्ते-हसरत मल के बोला चन्द रोज।
तुम कहाँ और मैं कहाँ ऐ दोस्तो,
साथ है मेरा-तुम्हारा चन्द रोज।
क्या सताते हो दिले बे-जुर्म को,
जालिमो ! है यह जमाना चन्द रोज।
याद कर तू ऐ नजीर कब्रों के रोज,
जिन्दगी का है भरोसा चन्द रोज।

सर्वप्रिय जी के आसन पर आसीन होते ही सारी सभा में उत्सुकता जाग उठी। महात्मा जी ने कहा—उपस्थित श्रोताओ ! हमने पिछली बैठकों में किसी की मृत्यु के अवसर पर एक नवजिज्ञासु के मन में उभरने वाली शंकाओं को सामने रखकर जन्म एवं मरण के कारण शरीर में आनेवाले परिवर्तनों, शोक-संवेदना, पारस्परिक सम्बन्ध और आत्मा की सत्ता एवं स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ विचार किया है। इन्हीं सारी मृत्यु-विषयक भावनाओं को बड़े सुन्दर ढंग से एक मन्त्र के अन्दर सँजोया गया है। आज पहले उसी मन्त्र के अर्थ पर एक दृष्टिपात करते हैं और तब उसके एक-एक चरण की विस्तार से चर्चा करेंगे। वह मन्त्र इस प्रकार से है—

अश्वत्थे वो निषदनं, पर्णे वो वसतिष्कृता।
गोभाज इत्किलासथ, यत्सनवथ पूरुषम्॥ यजु० १२-७९

तुम्हारा बसेरा पीपल के समान चलायमान संसार में है और पत्ते की तरह पतनशील देह में तुम्हारा वास है। अतः इन इन्द्रियों और

पृथिवी, सूर्यादि का उचित उपयोग करनेवाले बनो और अपने-आपको पूर्ण बनाने का प्रयत्न करो।

इस मन्त्र का पहला चरण है 'अश्वत्थे वो निषदनम्'—हे दुनिया वालो! जिस दुनिया में हम सब रह रहे हैं, हमारा यह दुनियारूपी मकान, बसेरा, अश्वत्थ='पीपल' के समान चलायमान है। अश्वत्थ शब्द का शाब्दिक अर्थ है न+श्व+स्थ=जो कल न रहेगा अर्थात् जिसका कोई भरोसा नहीं कि कल रहेगा या नहीं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि दुनिया की जितनी भी भौतिक चीजें हैं, जिनको प्रतिक्षण हम अपने व्यवहार में बर्तते हैं, वे सारी-की-सारी मकान, वस्त्र, बर्तन, फर्नीचर आदि सभी वस्तुएँ परिवर्तनशील, चलायमान, विनाशशील हैं। उनमें सदा परिवर्तन आता रहता है, और एक दिन वे आँखों से ओझल हो जाती हैं। अर्थात् हम चाहे इस परिवर्तन को पसन्द न करें और हर तरह से चाहते हों कि यह सबकुछ ऐसे ही रहे, पुनरपि व्यवहार में आनेवाली ये सारी भौतिक चीजें सदा एकरूप में नहीं रहतीं, क्योंकि ये अनित्य हैं, अतः ये बनती और बिगड़ती रहती हैं। कुछ पदार्थ धीरे-धीरे क्षीण होते हैं और फिर एक दिन पूरी तरह से अदृश्य[1] हो जाते हैं, तो कुछ पदार्थ अकस्मात् भूचाल, आगजनी, लड़ाई-झगड़े, बाढ़ और टक्कर आदि से एकदम नष्ट हो जाते हैं।

वेद के इन शब्दों का यह भाव नहीं है कि ऐसी स्थिति में हम दुनिया से ही उपराम हो जाएँ, भाग जाएँ। अपितु वेद तो खुले शब्दों में 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' (यजु० ४०-१)=प्रभु-प्रदत्त पदार्थों के भोग, बर्ताव का ही वेद सन्देश देता है। अर्थात् दुनिया में हमें जीना चाहिए, सरलता और सरसता के साथ पारस्परिक व्यवहार को पूर्ण करना चाहिए। इसका अभिप्राय यह हुआ कि दुनिया और दुनिया की वस्तुओं और सम्बन्धों को झूठा, माया समझकर इनसे नाक-भौं नहीं

---

१. अदृश्य का अर्थ है—दिखाई न देना। आकाश, दर्द आदि अनेक वस्तुएँ कभी भी दिखाई नहीं देतीं। परन्तु कुछ वस्तुएँ पहले दिखाई देती हैं, फिर अदृश्य=नष्ट हो जाती हैं। तभी तो कहा है—'अदर्शनं लोपः' पाणिनीय १, १, ६०=अदर्शन=न दिखाई देने का ही दूसरा नाम लोप हो जाना, नष्ट हो जाना है। इसी बात को सांख्य दर्शन में इस प्रकार से बताया है कि 'नाशः कारणलयः' १-१२१=णश् (अदर्शने) धातु से नाश शब्द बनता है, जिसका दार्शनिक दृष्टि से भाव है, कार्य-तत्त्वों का अपने कारण में समा जाना अर्थात् नष्ट होने वाली चीज तब पहले की तरह हमें दिखाई नहीं देती।

सिकोड़ना चाहिए, यहाँ से भागना नहीं चाहिए। अपितु, आशा और उत्साह के साथ जियो, इन पदार्थों को वर्तो। जो हर समय जगत् को झूठा, माया, धोखा मानते हैं, वे फिर यहाँ से हर तरह से भागने का प्रयास करते हैं। यहाँ आने के अवसर का लाभ नहीं उठाते।

इसी रहस्य को स्पष्ट करते हुए श्रीधर पाठक ने 'जगत सचाई सार' में कहा है—

समझ के सारे जग को मिट्टी, मिट्टी जो कि रमाता है।
मिट्टी करके सर्वस अपना, मिट्टी में मिल जाता है।।
कभी नहीं ऐसा मूरख नर, सार सृष्टि का पाता है।
जैसा ही आया था जग में, वैसा ही वह जाता है।।
इस शरीर से जो मनुष्य, नहीं कुछ भी लाभ उठाता है।
उससे तो वह पशु भला, जो काम सैकड़ों आता है।।
उसका जन्म व्यर्थ है, जो नर पौरुष कुछ न दिखाता है।
न इस लोक, न उसी लोक में, हाथ उसे कुछ आता है।।
ऐसा कायर तो पृथ्वी को, वृथा भार पहुँचाता है।
अपना जीना ही जिसको इक वड़ा बोझ हो जाता है।।

सम्भवत: १९८१ की घटना है कि अमेरिका में एक ऐसा धार्मिक सम्प्रदाय था जिसका विचार था कि यह जगत् झूठा, माया, जी का जंजाल, दु:खों का घर है। इन विचारों के कारण एक दिन वे सारे इस परिणाम पर पहुँचे कि जब यह जगत् मायारूप है और हम किसी प्रकार से भी इसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकते, तव ऐसी स्थिति में एक ही रास्ता रह जाता है कि अपने जीवन को ही समाप्त कर दें, तभी इससे किसी का छुटकारा हो सकता है। इस निष्कर्ष के आधार पर उस सम्प्रदाय के एक हजार के लगभग लोगों ने एक दिन एक-साथ निर्जन वन में गोलियाँ खाकर आत्महत्या कर ली। १९८५ में भी छोटे स्तर पर ऐसी ही एक घटना पुन: हुई और गुरु ने अपने सभी शिष्यों को विष वाला हलवा खिलाकर सदा के लिए नींद में सुला दिया।

नि:सन्देह संसार में सुख के साथ दु:ख, कष्ट, रोग, शोक भी हैं, पर अपने अनुकूल को लेने का बहुत बड़ी मात्रा में हमें अधिकार भी है। हम पूर्णत: यहाँ परवश, विवश नहीं हैं। वस्तुत: मिथ्या और अनित्य शब्द अलग-अलग हैं। इनका एक ही भाव ले लेने से यह अव्यवस्था हो रही है। मिथ्या, झूठे का भाव है, जो वस्तु जिस रूप में समझी या ली जा रही है, वह वैसी न हो। अनित्य का अर्थ है, जो सदा उसी रूप, स्थिति में न रहे। वस्तुत: दुनिया और उसके पदार्थ जैसे दीखते हैं,

अनुभव में आते हैं, वैसे ही वे उस समय होते हैं, अतः वे झूठे नहीं हैं। हाँ, वे सदा उसी स्थिति एवं रूप में नहीं रहते, समय के साथ बदलते रहते हैं। जैसे कि कोई खेल केवल दस या बीस मिनट-भर होता है। जिस समय वह होता है, उसकी सत्ता से कोई इनकार नहीं कर सकता। समय पूर्ण हो जाने पर वह समाप्त हो जाता है, अतः इसको मिथ्या नहीं कहा जा सकता, और जो खिलाड़ी अपने खेल को तात्कालिक सत्य समझकर उत्साह के साथ उसमें भाग लेता है, वही उसमें सफल होता है और अवसर का पूर्ण लाभ उठाता है तथा आगे आकर चमकता है। जो खिलाड़ी उस थोड़ी देर चलने वाले खेल को झूठा समझता है, वह कभी भी उत्साह से उसमें भाग नहीं ले सकता और न ही सफल हो सकता है। अतः किसी भी क्षेत्र में सफलता चाहनेवाले को सबसे पहले उसके सही स्वरूप को समझना चाहिए तभी वह सफल हो सकता है। इसी बात को समझाते हुए श्रीधर पाठक ने कहा है—

'जैसा यह जग बना हुआ है, वैसा इसको पहचानो।
ईश्वर की व्यापकता इसमें सभी ठौर प्यारे जानो॥
रूप जगत का यथार्थ देखो, पड़ो भूल में कभी न तुम।
जीवन के कर्तव्य निबाहो, समझ के उसके शुद्ध नियम॥
चलोगे सच्चे मन से जो तुम, निर्मल नियमों के अनुसार।
तो अवश्य प्यारे जानोगे, सारा जगत-सचाई-सार॥

वेद में अनेक रूपों से संसार में जीने का, इसके पदार्थों को वर्तने का, यहाँ कार्य करने का सन्देश दिया गया है। तभी तो स्थान-स्थान पर जीवन के लिए अत्यन्त अपेक्षित खेती, पशुपालन, व्यापार, उद्योग आदि से धन के अर्जन[१], यज्ञ, जप, उपासना आदि विविध धार्मिक कृत्यों के करने[२] और अनेक तरह के भक्ष्य पदार्थों के खाने-पीने,[३] वस्त्र धारण[४] का जहाँ वेद में वर्णन आता है, वहाँ शिक्षा[५], चिकित्सा, [गृहस्थाश्रम के सम्पादन[६] के लिए विवाह, शिशुपालन और इनमें आनन्द अनुभव का

---

१. कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व।—ऋ० १०-३४-१३ इत्यादि। इन सबका विस्तार 'वेदोद्यान' के जीवन दर्शन में देखें।
२. स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व।—यजु० २३-१५ इत्यादि
३. अजीजन ओषधीर्भोजनाय।—ऋ० ५-८३-१० इत्यादि
४. परिधत्स्व वासः।—अथर्व० १९-२४-५ इत्यादि
५. शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि।—ऋ० ७-३२-२६
६. गृहा मा बिभीत मा वेपध्वम्।—यजु० ३-४१ इत्यादि

भी संदेश प्राप्त होता है। गीताकार ने भी तो अर्जुन को यही संदेश दिया था[7] कि जीवन-संघर्ष के इस युद्ध में न तो तू दीनता दिखा और न ही इसको छोड़कर भाग अर्थात् अपने-आपको असमर्थ, कमजोर समझ-कर किसी व्यक्ति या परिस्थिति के आगे न तो गिड़गिड़ा और न ही डरकर, निराश होकर यहाँ से भाग। अतः

'न सिर झुका के जियो, न मुँह छिपा के जियो'

हाँ, प्रत्येक पदार्थ का प्रयोग सूझ-बूझ से करने पर ही लाभ एवं सफलता मिलती है। अतः बर्ताव और जीने के लिए हर स्थिति में सूझ-बूझ की जरूरत है। दुनिया में हमारा जीवन दो रूपों में चलता है। एक तो हम अपनों के साथ अपना सम्बन्ध निभाते हैं और दूसरा व्यवहार्य जड़ वस्तुओं को अपने कार्य की सिद्धि के लिए वर्तते हैं। अतः जिसके साथ हमारा जिस प्रकार का जो भी सम्बन्ध है, उस सम्बन्ध को उसी रूप में सचाईपूर्वक सरलता-सरसता से निभाने पर ही हमारे पारस्परिक तथा वैयक्तिक व्यवहार पूर्ण हो सकते हैं। ये सम्बन्ध जैसे अपने-जैसे व्यक्तियों से होते हैं, वैसे ही व्यवहार्य वस्तुओं से भी होते हैं। इन दोनों तरह के सम्बन्धों को ध्यान में रखकर हिन्दी भाषा के प्रसिद्ध कवि 'श्रीधर पाठक' जी ने 'जगत सचाई सार' नामक कविता में क्या ही मार्मिक रूप में कहा है—

लगा हुआ है वस्तुमात्र का एक-दूसरे से सम्बन्ध।
सब जीवों की भौतिक काया इससे पोषण पाती है।
जीव से नाता छुट जाने पर इसी में वह मिल जाती है॥
तुमसे, पृथ्वी से, मिट्टी से है बस इतना ही सम्बन्ध।
काम तुम्हारे आती है, वह सुन्दर प्राकृतिक निबन्ध॥
जो तन-मन से करता है श्रम, उचित रीति से चलता है।
सारी वसुधा का क्रम-क्रम से सर्वस उसको मिलता है॥
हाथ-पैर और आँख-कान, बुद्धि से काम जो लेता है।
जीवन का सुख पाता है, वह औरों को सुख देता है॥
पुत्र, कलत्र, मित्र, बान्धव में, फैलाकर सच्चा आनन्द।
काम जगत का करता है वह, रहता है सुख से स्वच्छन्द॥

यह एक सर्वसम्मत बात है कि किसी वस्तु का प्रयोग सोच-समझ के साथ करना चाहिए। तभी हम उससे लाभ प्राप्त कर सकते हैं और हानि से बच सकते हैं, अर्थात् बिजली के करण्ट की तरह हानि से बच

७. अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनम्।—गीता

सकते हैं, और कोई कहीं लोभ में आकर आम के गुद्दे के साथ छिलका और गुठली आदि ही खाने न लग जाएँ। इसी के साथ इसका दूसरा पहलू यह भी है कि केवल तुम्हारा ही सब पर अधिकार नहीं। तुम्हारे साथ और भी यहाँ रहते हैं। तुम अपने रहने-बर्तने के लिए मकान, वस्त्र आदि भोग्य पदार्थ अवश्य बनाओ, पर साथ न जाने वाले पदार्थों को प्राप्त करने के लिए हेरा-फेरी, बे-ईमानी, भ्रष्टाचार, मिलावट, स्मगलिंग द्वारा माल इकट्ठा करके दूसरों के खून, शोषण, अन्याय, अत्याचार से अपने हाथ न रँगो। क्योंकि यह सब कुछ यहीं-का-यहीं रखा रह जाएगा।[1] तभी तो किसी ने क्या ही सुन्दर कहा है—

इस धरा का धन धरा पर ही धरा रह जाएगा।
धन तो सच्चा धर्म है, जो काम अन्त में आएगा।।

संसार में जीवन धारण करनेवालों को जीवन के रूप में सांसारिक चीजों को बर्तने का एक मौका मिलता है। अतः यहाँ आनेवालों की होशियारी इसी बात में है कि वे बर्ताव की चीजों को बिगाड़े बिना ही इनका कितना अधिक-से-अधिक सुन्दर लाभ उठाते हैं। यदि हमने इस अवसर का लाभ न उठाया तो फिर पछतावा ही हाथ लगेगा। जैसे कि कोई अपने पड़ोसी से बर्तने के लिए कोई चीज माँगकर लाता है। उसकी बुद्धिमत्ता इसी में है कि उतनी देर में अधिक-से-अधिक उसका लाभ उठा ले। यदि किसी कारण से माँगी हुई चीज को आपने बर्ता नहीं और देनेवाले को उसकी जरूरत पड़ गई है, तो वह माँगने आएगा। तब यह कहने से काम न चलेगा कि मैंने तो इसको अभी बर्ता ही नहीं! और ऐसा कहना उचित भी नहीं लगता। अब तो अवसर के हाथ से निकल जाने के कारण गिड़गिड़ाने तथा हेरा-फेरी की अपेक्षा उस वस्तु को खुशी के साथ कृतज्ञतापूर्वक लौटाने में ही शोभा है। परन्तु जो ऐसा नहीं करते, ननु-नच से काम लेते हैं, या अत्यधिक बेचैन होते हैं, वे सामाजिक व्यवहार में अपनी साख, विश्वसनीयता को ही ठेस पहुँचाते हैं। ऐसे व्यक्तियों की सीमा-रहित बेचैनी को देखकर स्वामी

---

१. इसीलिए धन को रेक्ण, रिक्थ कहते हैं, क्योंकि रिक्थ इति धननाम, रिच्यते प्रयतः नि० ३-१; ऐसे ही पुत्र को शेष कहा जाता है, यतोहि शेष इति अपत्य नाम, शिष्यते प्रयतः नि० ३-१=मरनेवाले के ये यहीं रह जाते हैं, उसके साथ नहीं जाते।

शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति। मनु० ८-१७ में भी यही भाव है।

सदानन्द जी (मंगलूर, कर्नाटक) द्वारा सुनाई एक घटना स्मरण हो आती है।

मद्रास का एक चेट्टियार वर्मा में अपना बैंक चलाता था। उसका कारोबार बड़े अच्छे ढंग से चल रहा था। एक बार किसी कारण उसके लड़के की मृत्यु हो गई। यथावसर सभी सम्बन्धी, परिचित शोक-संवेदना प्रकट करने आए। यथासमय मृतक-सम्बन्धी सारी विधियाँ पूर्ण हुईं। इतने दिन बीत जाने पर भी चेट्टियार ने अपनी बेचैनी न छोड़ी। मास बीत जाने पर भी हर समय अपने पुत्र को याद करके रोता ही रहता। मित्रों ने अनेक बार समझाया कि यह घटना वस्तुतः बहुत ही दुःखदायक है। अब इसको धैर्य के साथ स्वीकार करने के सिवाय और कोई चारा भी तो नहीं। अतः सँभलो और धैर्य धारण करके अपने कार्य में जुटो, समय के साथ यह घाव धीरे-धीरे भर जाएगा। इस प्रकार जब भी कोई मित्र कुछ समझाता, वह उलटा माथा पीट-पीटकर रोने लगता। कुछ ने कहा, इस तरह आपके बेचैन रहने से घर के बाकी सदस्यों का क्या हाल होगा? बाकी बच्चों का तो ध्यान करो! एक मास और बीत गया, पर चेट्टियार में कुछ भी परिवर्तन न आया। तब एक दिन मित्रों ने सलाह बनाई; कुछ ने अपना सारा धन बैंक से निकलवा लिया और दूसरों को भी ऐसा ही करने के लिए कहा। धन लेनेवालों का ताँता लग गया। इसकी सूचना मिलते ही इस स्थिति से घबराकर चेट्टियार ने अपने मित्रों से कहा—तुम तो मेरे गहरे दोस्त हो, तुम्हें इस दुःख में मेरी हर तरह से सहायता करनी चाहिए। एक तो वियोग की वेदना से मैं बेचैन हूँ, उस पर आप सब ने मेरा बैंक खाली करना-कराना शुरू कर दिया है। तब मित्रों के प्रमुख ने कहा—जब भगवान् ने अपनी दी हुई चीज किसी कारण से ले ली, तो उसको वापस ले लेने पर आप इतने बेचैन हो रहे हो और किसी तरह सँभलने को तैयार नहीं, तो इसका क्या विश्वास कि कल हमारे धन को लौटाने के लिए तुम तैयार होते हो या नहीं। तब उस चेट्टियार को बात समझ में आई और धैर्य के साथ अपना कार्य करने लगा। वस्तुतः यदि कोई अपनी दी हुई चीज को वापस लेता है, तो उसके लिए हमें इतना अधिक बेचैन नहीं होना चाहिए। अवसर पर उसका उचित उपयोग करने के बाद दाता की चीज को धन्यवाद के साथ लौटा देना चाहिए।

हाँ, दुनियावालो! अपनी सुख-सुविधाओं के लिए इन चीजों को खुशी-खुशी इकट्ठा करो, पर ध्यान रखना ये साथ जाने वाली नहीं हैं। किसी राजे-महाराजे के साथ भी नहीं गईं। चाहे उन्होंने अपनी समझ

के अनुसार अपनी व्यवहार की वस्तुओं—आभूषण, जवाहरात ही नहीं, अपितु दासियों-सहित अपनी रानियों को भी अपने साथ कब्र में जिन्दा ही दबवाया। वे सारी यहीं-की-यहीं रह गईं, कोई चीज किसी के साथ नहीं गई। इसी भाव को किसी कवि ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

सिकन्दर जब चला दुनिया से, दोनों हाथ खाली थे।

अन्त में महात्मा जी ने कहा—आज की बैठक अब यहीं सम्पन्न करते हैं।

नौवीं बैठक

भौतिक पदार्थ नश्वर हैं—

इस बैठक को प्रारम्भ करते हुए महात्मा जी ने संगीतप्रिय जी के भजन के पश्चात् कहा—कहते हैं कि भोज जब अभी बालक ही था और गुरुकुल में अपने साथियों के साथ अपनी पढ़ाई में जुटा हुआ था, तो उसके पिता बहुत बीमार हो गए। हर तरह का अच्छे-से-अच्छा इलाज करने पर भी स्वस्थ न हुए और स्थिति यहाँ तक पहुँच गई कि ज्यों-ज्यों इलाज किया, रोग बढ़ता ही गया। अन्त में भोज के पिता ने अन्तिम काल को अनुभव करते हुए अपने भाई मुञ्ज को बुलाया और बालक भोज को मुञ्ज के हाथों सौंपते हुए कहा—जब तक यह योग्य नहीं होता, तब तक राज्य और इसकी तुम देखभाल करो।

दिनों पर दिन, सप्ताहों पर सप्ताह और मासों पर मास बीतने लगे। धीरे-धीरे मुञ्ज का मन भी बदलने लगा और राज्य के मद में मदमस्त होकर उसने विचारा कि अब तो सदा के लिए राज्य का स्वामी बनना चाहिए और रास्ते के इस काँटे (भोज) को भी किसी तरह से रास्ते से हटा देना चाहिए। अपनी इस योजना को पूर्ण करने के लिए उसने किसी विश्वस्त मन्त्री को छाँटना शुरू किया। अपने षड्यन्त्र में सम्मिलित करने के लिए उसने एक मन्त्री चुनके पट्टी पढ़ानी और प्रलोभन देने शुरू किए। जब समझा कि यह अब अपने काम का हो गया है, उसको अपने मन की बात बताई और सारी योजना समझाई तथा एक बहुत बड़ा इनाम देने का आश्वासन दिया।

कुछ दिन सोचने के बाद मन्त्री ने सोचा, मुञ्ज लोभ में अन्धा हो रहा है और यह कुछ भी करने में अब कोई भी बुराई नहीं समझता,

क्योंकि अब यह सब-कुछ करने के लिए तैयार है।[1] ऐसी स्थिति में एकदम मना कर देने से यह किसी और से यह षड्यन्त्र करा सकता है तथा मेरा भी शत्रु बन जाएगा। मैं इस राज्य का एक पुराना मन्त्री हूँ; मैंने केवल इस राज्य की ही सेवा नहीं की, अपितु भोज को अपने बच्चों से भी बढ़कर समझा है। भोज तो बहुत ही होनहार है तथा एक दिन देश के लिए गौरव के रूप में सामने आएगा। अतः ऐसा प्रयास करना चाहिए कि भोज भी बच जाए और मुञ्ज का मन भी बदल जाए। सोच-विमर्श के बाद मन्त्री ने एक योजना तैयार की।

पुनः एक दिन मुञ्ज के चर्चा चलाने पर मन्त्री ने कहा—आपकी योजना के अनुरूप चार सैनिकों को मैं साथ नहीं ले जाऊँगा, क्योंकि इससे कभी भी भेद फूट सकता है। मैं अकेला ही जाऊँगा। शिकार के बहाने मैं ऐसा तरीका अपनाऊँगा कि भोज को भी पता न चलेगा कि यह प्रहार किसने किया है। भोज को मुझ पर विश्वास भी बहुत अधिक है, अतः मेरे साथ शिकार में जाने पर भोज को सन्देह भी नहीं होगा। मुञ्ज को मन्त्री की योजना पसन्द आई; कुछ सुझाव और देकर स्वीकृति दे दी। एक दिन मन्त्री रथ पर सवार होकर राजधानी से चल पड़ा और रथ भी स्वयं चलाया। सायंकाल गुरुकुल में ही जाकर ठहरा। गुरुकुल के हर विभाग का अच्छी प्रकार से निरीक्षण किया। संस्था की सुविधाओं और असुविधाओं की जानकारी ली तथा अपेक्षाओं का पता लगाया। रात को गुरुकुल के कुलपति और प्राध्यापकों से शिक्षा के सम्बन्ध में विचार-विमर्श किया। प्रातः नित्यकर्मों से निवृत्त होकर अध्ययन-अध्यापन का भी कुछ अवलोकन किया। मध्याह्न में आचार्य से निवेदन किया कि भोज को कुछ दिनों के लिए राजधानी ले जाना है। आचार्य से अनुमति लेकर मन्त्री भोज को लेकर चल पड़ा। जब गुरुकुल से काफी दूर आ गए तो वन में विश्राम के लिए एक वृक्ष के नीचे रुके। परस्पर अनेक प्रकार की बातें हुईं। मन्त्री भोज की बातों से बहुत ही प्रसन्न हुआ। तब बातों-ही-बातों में मन्त्री ने भोज को उसके चाचा की इच्छा बताई। भोज यह सुनकर कुछ गम्भीर हो गया और कहा, मैं अभी दो मिनट में इसके सम्बन्ध में अपनी इच्छा बताता हूँ। तब थोड़ी देर बाद मन्त्री को एक पत्ता देते हुए भोज बोला—मेरे चाचा को यह सन्देश दे देना और मेरे चाचा के सन्तोष के लिए मेरा यह सिर उपस्थित है। आप इसको काटकर और इसमें से आँखें निकालकर

---

१. स्वार्थी दोषं न पश्यति, लोभः पापस्य कारणम्, लोभो मूलमनर्थानाम्।

मुञ्ज की इच्छा का पालन कीजिए।

मंत्री ने भोज के सन्देश को कई बार पढ़ा और अपने होनहार भावी राजा की योग्यता और सज्जनता से प्रभावित होकर कहा—प्रिय भोज ! मैंने तो तुझे सावधान करने के लिए यह सब-कुछ बताया है, क्योंकि स्वार्थी-लोभी मनुष्य का मन बहुत चंचल होता है, वह कभी भी एकदम कुछ भी कर सकता है। अतः उत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्तियों को सदा सावधान रहना चाहिए। इसके बाद विविध विषयों पर दोनों की काफी बातचीत हुई।

इतने में पूर्व-योजना के अनुसार गुरुकुल से भेजा हुआ व्यक्ति मुञ्ज के पास पहुँचा और बड़ी उदास और गम्भीर मुख-मुद्रा में उसने सूचना दी कि आपका पुत्र कई दिनों से अनुपस्थित है। उसकी बहुत ही खोज की गई पर उसका कहीं पता नहीं चला। हाँ, घनघोर वन की ओर जाते हुए उसके पैरों के निशान आज ही मिले हैं। और कोई चारा न देख विवश होकर आज आपके पास आचार्य ने मुझे भेजा, वैसे प्रबन्धक अभी भी खोज में लगे हुए हैं। इस सन्देश को सुनते ही मुञ्ज के मन में अनेक तरह की आशंकायें उभरने लगीं और उसकी पत्नी ने अपने एकाकी पुत्र के अज्ञात होने का समाचार सुनते ही कोसना और रोना शुरू कर दिया।

सायंकाल का कुछ अँधेरा होने पर मन्त्री ने अपनी योजना के अनुसार एक हरिण शावक का शिकार किया और उसकी आँखें निकालकर तथा भोज को रथ में छिपाकर रथ को अपने घर की ओर हाँक दिया। रात्रि के प्रथम पहर में रथ मन्त्री के गृह पर पहुँचा और भोज को एक सुरक्षित स्थान पर छिपा दिया। एक सुन्दर डिबिया में उन आँखों को सजाकर मन्त्री राजा के पास पहुँचा। वहाँ का दृश्य पहले ही शोक की विह्वलता से भरपूर था। राजा ने बड़ी परेशानी से भरकर मंत्री की ओर देखा। पुनरपि मुञ्ज मंत्री को साथ लेकर एक विशेष एकान्त कमरे में आया। राजा ने प्रथम अपने पुत्र के खो जाने और अपनी पत्नी के विशेष विह्वल होने की बात बड़ी निराशा से कही। राजा के पूछने पर 'गर्म लोहे पर चोट' के मर्म का लाभ उठाते हुए मंत्री ने पुत्र के मोह में विह्वल मुञ्ज की भावनाओं को अपने संवेदना-भरे शब्दों से पहले खूब उभारा, फिर बड़ी मार्मिकता के साथ सारे दृश्य का वर्णन किया और रक्तरंजित वस्त्र के साथ-ही-साथ आँखों को दिखाते हुए मंत्री ने राजा से कहा कि भोज ने बड़े स्नेह से आपके सम्बन्ध में एक-एक बात पूछी। वह तो आपके प्रति बहुत ही अधिक आदर दर्शाता

था और बड़ी आत्मीयता से आपकी चर्चा करता था। हाँ, तड़प-तड़पकर मरते समय आपके लिए आपके चिरञ्जीव ने यह सन्देश दिया था। भोज का लिखा पत्र मंत्री ने राजा मुञ्ज के हाथ में दिया।

प्रथम तो पुत्र-मोह की विह्वलता, उस पर मार्मिकतापूर्ण दृश्य का वर्णन तथा सबसे बढ़कर भोज की स्नेहपूर्ण बातों के बीच में मुञ्ज पत्र के सन्देश को पढ़ने लगा[१]—'सत्ययुग में प्रजाप्रिय सम्मानित राजा मान्धाता हुआ और त्रेता में मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम हुए जिन्होंने समुद्र पर भी पुल बाँधकर महाबली रावण का विनाश किया तथा द्वापर में युधिष्ठिर आदि राजा बने और इस तरह संसार में एक के बाद एक करके अनेक राजा आए और चले गये, पर धरती किसी के साथ भी नहीं गई। चाहे कुछ ने यह समझा या ऐसा लूट-खसूट का व्यवहार करके यह दर्शाया हो कि यह वसुन्धरा और उसकी सारी सम्पत्ति उनके साथ अवश्य जाएगी। हाँ, उनके साथ तो यह नहीं गई, पर प्रिय चाचा, अब आपको विश्वास हो गया है कि आपके साथ यह अवश्य जाएगी।' इन भावनाओं से राजा मुञ्ज के मस्तिष्क को एकदम धक्का लगा और अपने सामने रक्तरंजित वस्त्र में अपने स्नेही भतीजे की आँखें देखकर मुञ्ज बहुत अधिक विह्वल हो उठा और अपने पापों को याद करने लगा। मंत्री के आगे सिर पीट-पीटकर कहने लगा—किसी तरह मेरा भोज मुझे लाकर दो! मैं उसके बिना अब एक पल भी जीवित नहीं रहूँगा! मैं आज ही उसकी हत्या के प्रायश्चित्त के लिए सबके सामने आत्मदाह करूँगा। वैसे तो मेरे पुत्र का खो जाना, मेरे पापों का ही परिणाम है और हम दोनों पति-पत्नी को आज पता चला है कि किसी पुत्रविहीन का क्या हाल होता है, पर भोज की हत्या के इस षड्यन्त्र से तो मैं पूरी तरह नंगा हो गया हूँ कि मैंने स्वार्थ और लोभवश कितना बड़ा पाप कमाया है। आत्मदाह के अतिरिक्त मेरे लिए मुँह छिपाने का और कोई रास्ता नहीं है। जनता जाने और उसका राज्य जाने कि इनका अब क्या होगा,' पर मैंने तो इस 'पाप के बाप' को छोड़ दिया है। मैं सूर्योदय के साथ ही सबके सामने अग्नि में प्रवेश करूँगा। आप मुझ पर दया करके चिता का प्रबन्ध करा दीजिए, जिससे मैं अपने पापों

---

१. मान्धाता स महीपतिः कृतयुगेऽलंकारभूतो गतः,
सेतुर्येन महोदधौ विरचितः क्वासौ दशास्यान्तकः।
अन्ये चापि युधिष्ठिरप्रभृतयो याता दिवं भूपते। (ह्यस्तंगता भूतले)
नैकेनापि समं गता वसुमती मुञ्जः त्वया यास्यति॥

का कुछ प्रायश्चित कर सकूँ।

मुञ्ज ऐसा कहते-कहते कुछ देर के लिए मौन हो गया और फिर बड़े गम्भीर ढंग से कहने लगा—मंत्री जी, यदि अब भी किसी प्रकार से कहीं से भोज आ जाए, तो मैं चाहे उसके सामने मुँह दिखाने योग्य नहीं हूँ, फिर भी बेशर्म की तरह एक बार उसके सामने जाऊँगा और उसके पैरों में पड़कर क्षमा माँगूंगा कि मैं चाहे जीवित रहने के योग्य नहीं हूँ, फिर भी वह मुझे एक बार जीवन-दान दे दे, जिससे मैं जीवित रहकर अपने पाप सबको बता सकूँ तथा प्रायश्चित्त के रूप में साधु-वेश धारण करके जहाँ आत्मसुधार का कुछ प्रयत्न करूँगा, वहाँ सारी दोपहर सड़कों पर सफाई किया करूँगा। ऐसा कहते-कहते मुञ्ज सिर पटक-पटककर रोने लगा और एकदम वेसुध हो गया। कुछ देर बाद होश में आने पर मुञ्ज गिड़गिड़ाकर मंत्री को कहने लगा—किसी तरह एक बार मुझे मेरे भोज से मिला दो! और फिर रोते-रोते बेसुध हो गया।

मंत्री मुञ्ज की इस विह्वलतापूर्ण स्थिति से दयार्द्र हो उठा। मुञ्ज के होश में आने पर उसको सही स्थिति बता दी। तब विलाप करता हुआ मुञ्ज नंगे पैरों मंत्री के साथ निर्दिष्ट स्थान पर गया और भोज के पैरों में पड़कर अपने पाप के लिए क्षमा माँगी। प्रातः भोज का राज्याभिषेक कराया, साधुवेश धारण करके प्रायश्चित्त के लिए स्वयं वन की राह ली।

इस कथानक को पूर्ण करते हुए महात्मा जी ने कहा—हम अपने चारों ओर की भौतिक चीजों को नष्ट होते हुए देखते हैं, फिर भी इन नाशवान्, यहीं रहने वाली चीजों के लिए इतनी हेरा-फेरी, बेईमानी करते हैं। दुःख की बात तो यह है कि और क्षेत्रों की तो बात ही क्या, आज हमने धर्म के क्षेत्र को भी व्यापार का धन्धा और अड्डा बना लिया है। जो धर्म सबके भले के लिए सबको आपस में जोड़ने का काम करता था, आज वहाँ अपने और पराए के आधार पर घृणा, ईर्ष्या, द्वेष की आग को हवा दी जा रही है। पंजाब का वातावरण इसका ताजा उदाहरण है। कर्मकाण्ड का प्रदर्शन ही धर्म का मुख्य मर्म बनकर सामने आ रहा है। तभी तो आज अधिकतर धर्म-कर्म, दान-पुण्य भी पापों को छिपाने के लिए या दूसरों की आँखों में धूल झोंकने के लिए ही करते हैं। तभी तो नत्थासिंह ने लिखा है—

बाँटता है कम्बल, लोगों की चमड़ी उधेड़ के।

हम अपने प्रिय शास्त्रों का पाठ करते हुए बार-बार कहते हैं, 'जो जस करहि सो तस फल चाखा'—जो जैसा बीज बोता है, वह वैसा फल

प्राप्त करता है।[1] संसार में कोई भी 'बोये पेड़ बबूल के आम कहाँ से खाय' के सिद्धान्त का उल्लंघन नहीं कर सकता। जो जैसा कर्म करता है, उसको वैसा ही फल हर स्थिति में भोगना पड़ता है। तब किसी से छल-कपट और अन्याय का व्यवहार करने का क्या लाभ ? भारतीय संस्कृति की महत्ता को सामने रखकर इस पर गर्व करना एक अच्छी बात है, पर विचारणीय बात तो यह है कि उसके प्रति श्रद्धा और विश्वास रखते हुए हम उसका कितना पालन करते हैं, क्योंकि भारतीय संस्कृति का मूल तत्त्व कर्मफल की व्यवस्था ही है और अन्य बातें तो उसकी व्याख्या तथा सहायक के रूप में ही हैं। हम अपनी संस्कृति के अनुसार 'जो रत्त लागे कापड़ा…' सदृश वचनों का कीर्तन-पाठ तो खूब करते हैं, पर इसका प्रभाव हमारे जीवन में बहुत कम ही दिखाई देता है। हमारी स्थिति उस साधु जैसी ही है, जिसके सम्बन्ध में कहते हैं कि—

एक व्यक्ति किसी अच्छे-खासे डेरे का महन्त था और उसको दुनियावी चीज़ें जोड़ने का बड़ा शौक था। वह पढ़ने-लिखने तथा सत्संग-ध्यान से सदा दूर रहता था। उसने अपने इस शौक को खूब पूरा किया। धीरे-धीरे महन्त बूढ़ा होता गया। एक बार वह महन्त इतना अधिक बीमार हुआ कि बचने की कोई आशा नहीं रही तथा एक दिन अपने सत्संगियों और चेलों को रोते-बिलखते छोड़कर इस दुनिया से कूच कर गया। उसकी अन्तिम क्रियाओं से निवृत्त होने के बाद बड़े चेले (उत्तराधिकारी) ने डेरे की एक-एक चीज को सम्भालना शुरू किया। और सारी चीजें तो मिल गईं, पर गुरु जी के पास जो कुछ तोले शुद्ध सोना था, वह नहीं मिला। सोचते-सोचते ध्यान आया, जिन दिनों गुरुजी बीमार थे, उन दिनों उन्होंने एक बार सुनार को बुलाया था। शायद उससे कुछ पता चल जाए। यह सोचकर उसने एक दिन एकान्त में सुनार से पूछा उसने उत्तर दिया, हाँ उनके पास बहुत बढ़िया सोना था। उन्होंने मुझसे उसकी बहुत छोटी-छोटी डलियाँ बनवाई थीं। तब सोचने पर ध्यान आया कि गुरुजी अन्तिम दिनों बड़े चाव से शुद्ध देसी घी का हलवा

---

१. किल्बिषमत्र नाधारोऽस्ति न यन्मित्रैः सममान एति। अनूनं पात्रं निहितं न एतत् पक्तारं पक्वः पुनराविशाति॥—अथर्व० १३-३-३८=कर्मफलरूपी पात्र पूर्ण है, इससे बचने का इसमें कोई छिद्र नहीं है, न ही किसी के सहारे इससे बच सकते हैं और न ही मित्र-बन्धु इसमें भागीदार बन सकते हैं; जो जैसा कर्म करता है, यह पककर उसी के पास ही जाता है।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।

बनवाया करते थे और वे उसको सदा एकान्त में ही खाया करते थे। हो न हो वे हलवा इसीलिए बनवाया करते हों कि जिससे इसके साथ सोने के टुकड़े आराम से निगले जा सकें। हो सकता है उन्होंने सोचा होगा, यदि डेरे के मकान, वस्त्र आदि मेरे साथ न भी गए तो कम-से-कम यह सोना तो इस तरह अवश्य ही साथ चला जाएगा।

यही कुछ स्थिति और व्यवहार अधिकतम हम सबका है। तभी तो आए दिन समाचार-पत्रों में भ्रष्टाचार, गबन की घटनायें छपती रहती हैं। इनसे यही अवगत होता है कि जिसको कोई कुर्सी या पद किसी प्रकार से मिल जाता है, तो वह एक ही बार में सारी कसर पूरी करने लग जाता है। जनता के वोटों से कुछ समय के लिए चुने जाने वाले प्रतिनिधियों में से बहुत सारे ऐसे थे या हैं, जिन्होंने कौन-सा भ्रष्टाचार नहीं किया? इनके व्यवहारों से ऐसा प्रतीत होता है जैसे ये अपने से ऊपर किसी को समझते ही न हों, और न ही किसी विधान को अपने लिए ज़रूरी मानते हों। इनके लिए सब-कुछ वैध था या है, तभी तो गद्दियों को सदा हथियाये रखने के लिए चुनाव आदि में ये क्या-कुछ नहीं करते! आए दिन कोई-न-कोई भाण्डा (जाँच-रिपोर्ट) चौराहे पर फूटता रहता है। यह तो अटल नियम है कि 'अहंकारया सो मारया'। पर आज हम सबकी प्राय: यही स्थिति है कि 'सामान सौ बरस का, पल की खबर नहीं।' इसीलिए वेद ने पहले से ही सावधान करते हुए कहा है—अश्वत्थे वो निषदनम्=तुम्हारा (हमारा) बसेरा इस चलायमान जगत् में है।

सर्वप्रिय जी ने एक उपसंहार-भरी दृष्टि चारों ओर डालते हुए कहा—आज हमने मन्त्र के प्रथम चरण पर विचार किया है, दूसरे पर अब अगली बैठक में करेंगे।

दसवीं बैठक

नश्वर देह—

आज जब भजनों के पश्चात् सर्वप्रिय जी ने कथा शुरू की तो उन्होंने कहा—पिछले सत्संग की समाप्ति पर कुछ सज्जन मेरे पास आए थे और शोक की अभिव्यक्ति करते हुए कहने लगे, श्रीमान जी! आपने भी यह दु:खद समाचार सुना होगा कि पड़ोस से एक बारात बस द्वारा गई

थी। रास्ते में जब एक दूसरी बस ने उससे रास्ता माँगा, तो बाराती खुशी के नशे में अपने ही मूड में थे। उनमें से कुछ नवयुवकों ने चालक को प्रोत्साहित किया। चालक ने अपनी बस तेज कर दी। इस प्रकार उन दोनों बसों में काफी देर तक आगे निकलने की ललक लगी रही। इसी भागदौड़ में बारात की बस चालक के काबू से बाहर हो गई और इतनी बुरी तरह से दुर्घटना हुई कि ४० बाराती घटनास्थल पर ही दम तोड़ गए, शेष हस्पताल में किसी न किसी अंग से अपाहिज होकर अपना इलाज करा रहे हैं।

वैसे तो प्रतिदिन कहीं-न-कहीं रेल, बस, वायुयान आदि वाहन की दुर्घटना या अपहरण, तूफान आदि से एक-साथ अनेकों की मृत्यु होती रहती है, पर पड़ोस की बात होने से हर एक की जुबान पर इसी की चर्चा है। इस दुर्घटना को सुनकर प्रत्येक के मन में अनेक आशंकाएँ उभरती हैं कि क्या इन सबकी मौत पहले से ही निश्चित थी? या यह एक स्वतन्त्र दुर्घटना है? क्या भगवान् की मर्जी से ही सब-कुछ होता है या घटनेवाली घटना के पीछे कोई ऐसी व्यवस्था होती है, जिसके अनुसार घटनाएँ घटती हैं? इनमें से कुछ बातों पर हम पहले विचार कर चुके हैं और कुछ पर गहराई से आगे विचार करेंगे। आज सबसे पहले सोचनेवाली बात तो यह है कि जिस किसी भी कारण से मौत हो, वह होती शरीर की ही है।

अतः केवल हमारे द्वारा प्रतिदिन वर्ती जानेवाली दुनियावी चीजें ही अस्थिर नहीं हैं, अपितु हमारा यह शरीर, जो कि 'देवानां पुरी अयोध्या' कहलाता है और जिसको हम सवेरे से शाम तक पालते-पोसते हैं तथा हर समय सँवारने में लगे रहते हैं, वह भी नाशवान् है; पता नहीं कब किधर से आँधी का कैसा झोंका आए और यह डंठल से अलग हुए पत्ते की तरह नीचे ही पड़ा दिखाई दे। तभी तो वेद ने पूर्व-मन्त्र के दूसरे भाग में कहा है—'पर्णे वो वसतिष्कृता' अर्थात् पत्ते-जैसे पतनशील शरीर में तुम्हारा वास है। आए दिन मौत की जो घटनाएँ सामने आ रही हैं, उनसे तो यही सिद्ध होता है, कि इस शरीर का कोई भरोसा नहीं, कब यह जवाब दे जाए? शरीर शब्द का भी यही भाव है कि संसार की अन्य विनाशशील वस्तुओं की तरह यह भी शीर्ण होने वाला है। शास्त्रों में स्थान-स्थान पर शरीर की नश्वरता का संकेत मिलता है।[1]

१. तव शरीरं पतयिष्णु। (ऋ० १-१६३-११)=तेरा यह शरीर नष्ट होनेवाला है। अथेदं भस्मान्तं शरीरम्। (यजु० ४०-१५)=शरीर का अन्त भस्म ही है, जो कि अन्त में धरती की धूल में हो समा जाती है।

अर्थात् हम सभी का शरीर विनाशशील है और ऐसा सभी शरीरधारियों के साथ होता है; यह किसी एक की बात नहीं। तभी तो वैरागीजन अनेक बार विविध रूप में एक आख्यान सुनाते हैं—

एक दम्पती किसी महात्मा के चरणों में पहुँचे। अभिवादन के पश्चात् जब वे सामने बैठे तो महात्मा जी ने उनके मुख को देखकर कहा, क्या बात है ? बहुत ही उदास, निराश और हताश दिखाई देते हो ? यह सुनते ही एकदम दोनों ने रोना शुरू कर दिया। कुछ समय बाद रुँधे गले से पति ने कहा, महात्मा जी ! हमारी तो दुनिया ही लुट गई। हमारे जैसा दुःखी, दुर्भाग्यशाली इस संसार में और कोई भी नहीं है। अब तो छुटकारे का एक ही रास्ता दिखाई देता है कि हमारे भी प्राण निकल जाएँ, क्योंकि हमारी आँखों का तारा, हृदय-कमलरूप हमारा संजीव हमें रोते-बिलखते छोड़कर चला गया है। अब हमें चारों ओर अन्धेरा-ही-अन्धेरा दिखाई देता है, इसीलिए सिर पटक-पटककर हम जहाँ-तहाँ अपनी मौत ढूंढ रहे हैं। हमें न अब खाना अच्छा लगता है, और न ही अब जीने की इच्छा है।

महात्मा जी ने अनेक तरह से धैर्य बँधाने का प्रयास किया, पर वे दोनों एकदम रोने लग जाते और अपने पहलेवाले शब्दों को दुहराते हुए कहने लगते, भगवान् न जाने हमसे क्यों नाराज है ! हम पर यह पहाड़ जैसे दुःख क्यों डाल रहा है ? बार-बार धैर्य बँधाने के बाद भी जब उनमें कोई अन्तर न आया, तो महात्मा जी ने कहा—आप दोनों सोचते हैं कि हम जैसा इस दुनिया में कोई दुखिया नहीं है। अतः आप दोनों जाकर पहले किसी ऐसे घर से मुझे एक रोटी लाकर दो, जिस घर में किसी भी सदस्य की कभी मृत्यु न हुई हो, इसके बाद फिर अगली बात करेंगे।

अपने-आपको सबसे अधिक दुःखी समझते हुए, वे दोनों वहाँ से चले और महात्मा जी के कथन को पूरा करने के लिए एक के बाद एक घर का द्वार खटखटाने लगे और बड़ी आशा के साथ अपनी बात बताकर रोटी माँगी। पर सायं तक सारे कस्बे में घूमने पर भी उन्हें कोई ऐसा घर न मिला। तब थककर खाली हाथ महात्मा जी के पास पहुँचे। सारी स्थिति का स्मरण कराते हुए महात्माजी ने कहा—यह कोई तुम्हारे अकेले की ही बात नहीं है, सभी का ऐसा ही हाल है; और यह केवल इस कस्बे की ही बात नहीं, अपितु सभी ग्रामों और नगरों की यही स्थिति है, क्योंकि इस दुनिया में आना-जाना सदा चलता रहता है। जो भी इस संसार में आता है, वह एक न एक दिन यहाँ से अवश्य

ही जाता है; कोई भी यहाँ सदा नहीं रहता। अतः यह बात केवल तुम्हारे साथ ही नहीं हुई। ऐसा सभी के ही साथ होता है।

धैर्य के साथ कुछ विचार करो, तुम दोनों अभी बहुत बूढ़े नहीं हुए, तुम्हारे शरीर स्वस्थ हैं, तुम्हारे पास जीवन-निर्वाह के योग्य एक अच्छा मकान है और पर्याप्त कमाई का साधन है, तथा सबसे बड़ी बात तो यह है कि अभी तुम्हारे दो बच्चे और भी हैं। यह ठीक है कि ये उसका स्थान नहीं ले सकते, पर वैसे ही आत्मज हैं। उनका ठीक प्रकार से पालन करो। इसमें क्या बात है कि वे तो लड़कियाँ हैं? समय के साथ इस भावना में बहुत अन्तर आ चुका है। उनको भी हर प्रकार से योग्य बनाओ, वे तुम दोनों के भविष्य की आशाएँ अवश्य ही पूर्ण करेंगी। इतना अधिक हताश, निराश, उदास होने की कोई बात नहीं। वंश तो दोनों के सहयोग से चलता है, तुम्हारा योगदान कभी छिप नहीं सकता। अतः हर तरह से धैर्य धारण करके अपने कर्तव्य का पालन करो। हाँ, अब पहले जैसी लापरवाही नहीं होनी चाहिए, जिससे फिर पछताना पड़े। हमें कभी भी इस भ्रम में नहीं रहना चाहिए कि मेरे भाग्य में तो इतने दिन जीना लिखा है और मेरी आयु तो अभी केवल इननी ही हुई है। कोई पता नहीं कब कैसी घटना घट जाए कि जिसके परिणामस्वरूप यह मिट्टी की काया मिट्टी में ही मिली हुई मिले। क्योंकि बहुत सारे अपनी लापरवाही, बदपरहेजी, आहार-विहार की अनियमितता, शराब आदि नशों और बार-बार गलत व्यवहारों के दुष्परिणामों या ठोकरों से न सम्भलते हुए जानबूझकर मौत को बुलाने वाले कार्य करते हैं। परस्पर के ईर्ष्या-द्वेष से एक-दूसरे पर घातक आक्रमण करते हैं। आश्चर्य है कि पुनरपि हम बड़े सहज रूप में कहते हैं कि मौत पर किसका वश है!

प्रतिदिन सामने आनेवाली लड़ाई की घटनाओं तथा दुर्घटनाओं से भी यही सिद्ध होता है कि यह भौतिक शरीर विनाशशील है। इसीलिए शरीर शब्द के स्वारस्य को स्पष्ट करते हुए निरुक्तकार यास्क ने लिखा है कि शरीर का स्वभाव कटने-मरने वाला है; जब कभी जहाँ कहीं से कट जाता है तथा यह ठण्डा पड़ जाता है, अर्थात् न जाने किस घटना के कारण यह कब ठण्डा पड़ जाए। आए दिन यही तो हम अपने चारों ओर देख और सुन रहे हैं कि किसी के हाथ में तराजू या कलम पकड़ा-का-पकड़ा ही रह जाता है। आगजनी, यन्त्रों तथा यानों की दुर्घटनाओं और बदले की भावना से होने वाले आक्रमणों व बन्धक बननेवालों ने मौत को खिलौना ही बनाकर रख दिया है। कोई जब चाहता

है, जैसे चाहता है तोड़-मरोड़कर रख देता है। यही कुछ भौतिक शरीरों का रूप सामने आ रहा है।

इन शब्दों को सुनकर, पूछने की अनुमति प्राप्त करके विवेकशील ने कहा—कि इस सबका फिर तो यही भाव हुआ कि आयु निश्चित नहीं है अर्थात् अकाल मृत्यु भी होती है। परन्तु भाग्यवाद के अनुसार तो सबकी आयु निश्चित बताई जाती है और वहाँ कालमृत्यु ही मानी जाती है। उनकी मान्यता के अनुसार जिसकी जिस समय जिस स्थान पर जिस रूप में मृत्यु विहित है, उसी रूप में ही उसकी मृत्यु होती है। अच्छा हो इसी प्रसंग में इस विषय पर भी कुछ प्रकाश डालें।

कालमृत्यु या अकालमृत्यु—विवेकशील के प्रश्न के साथ कुछ अन्य श्रोताओं की जिज्ञासा को ध्यान में रखते हुए सर्वप्रिय जी ने कहा—विचारशील सत्संगी बन्धुओ! संसार के व्यवहार, जीवन के अनुभव और तर्क-प्रमाण से तो यही सिद्ध होता है कि किसी की आयु निश्चित नहीं है। समय-समय पर होने वाली महामारियों, दैवी प्रकोपों, दुर्घटनाओं और युद्धों-आक्रमणों से भी यही प्रमाणित होता है कि किसी की आयु निश्चित नहीं है। वेद में एक-दो स्थान पर ही नहीं, अपितु सैकड़ों बार आयु बढ़ाने की प्रार्थनायें आती हैं[१]। कई स्थलों पर तो प्रार्थनाओं में आयुवर्धक पदार्थों, क्रियाओं का स्पष्ट संकेत मिलता है[२]। यदि आयु बढ़ नहीं सकती, तो आयु बढ़ाने की प्रार्थनाओं का क्या प्रयोजन है? इसी प्रकार अनेक स्थलों पर वेद में बीच की मौत से बचने की प्रार्थना की गई है तथा बीच की मौत से बचानेवाले साधनों का भी संकेत किया गया है। आयु के निश्चित होने पर बीच की मृत्यु से बचने की चर्चा[३] निरर्थक सिद्ध होती है।

आयुर्वेद आदि के चिकित्सा-ग्रंथों में आयु को बढ़ाने वाले प्रयोगों और औषधों का विस्तार से वर्णन मिलता है[४]। यदि आयु बढ़ नहीं

---

१. आयुर्मे पाहि यजु० १४-१७; प्रायुस्तारिष ऋ० १-३४-११; यजु० ३४-४७; कृणुते दीर्घमायु: यजु० ३४-५१; नव्यमायुः प्र सु तिर ऋ० १-१०-११; द्राघीय आयु: प्रतरं दधाना: ऋ० १-५३-११; अस्माकमायुर्वर्धयन् ऋ० ३-६१-१५; द्रविणोदा रासते दीर्घमायु: ऋ० १-९५-८।

२. आयुर्यज्ञेन कल्पताम् यजु० ९-२१; अप्स्वायु: यजु० १८-५।

३. मा न आयु: प्रमोषी यजु० ४-२३; मा नो मध्या रीरिषदायुर्गन्तो: यजु० २५-१२; अन्तर्मृत्युर्दधतां पर्वतेन यजु० ३५-१५; ब्रह्मचर्येण देवा मृत्युमुपाघ्नत अ० ११-५-१९।

४. विस्तरार्थ लेखककृत 'अमृत दर्शन' देखें।

सकती, तो इस सारे वर्णन और उपचार का क्या उद्देश्य ? चिकित्सा-शास्त्र के वर्णन से तो यही सिद्ध होता है कि आयु घटाई-वढ़ाई जा सकती है। इसीलिए आयुर्वेद के मान्य आचार्य चरक ने एक सोदाहरण वर्णन दिया है—

प्रश्न—कालमृत्यु और अकालमृत्यु कैसे होती है ?

उत्तर—भगवान् आत्रेय ने अग्निवेश से कहा कि जैसे रथ की धुरी अपनी विशेषताओं से युक्त होती है और वह उत्तम तथा सर्वगुण-सम्पन्न होने पर भी चलते-चलते समयानुसार अपनी शक्ति के क्षीण हो जाने से नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार बलवान् मनुष्य के शरीर में आयु स्वभावतः धीरे-धीरे उपभोग में आने पर अपनी शक्ति के क्षीण हो जाने पर नष्ट हो जाती है (इसी का नाम कालमृत्यु है)। जैसे वही धुरी बहुत बोझ लाद लेने से, ऊँचे-नीचे मार्ग पर चलने से, पहिए के टूटने से, कील निकल जाने से, तेल न देने से बीच में ही टूट जाती है, उसी प्रकार शक्ति से अधिक काम करने से, उचित रूप से भोजन न करने से, हानिकारक भोजन खाने से, इन्द्रियों के असंयम से, कुसंगति से, विष आदि खाने से और अनशन आदि से बीच में ही आयु समाप्त हो जाती है, इसी को अकाल मृत्यु कहते हैं। इसी तरह रोगों की ठीक चिकित्सा न होने से भी अकाल मृत्यु होती है।

—चरक संहिता, द्वारा बृहद्-अनुवादचन्द्रिका पृ० ६०५

इस प्रसंग को समझने का एक सुन्दर उदाहरण यह भी है कि हम ग्रीष्म ऋतु में प्रतिदिन बर्फ के कारखाने से बर्फ लाते हैं। उस बर्फ को कोई आइस-बाक्स में, कोई भूसे में दबाकर और कुछ बोरी में लपेटकर या कुछ ऐसे ही रखते हैं तो कोई जल में डालते हैं। इन सब स्थितियों में वर्फ के पिघलने का समय अलग-अलग होता है, चाहे एक ही कारखाने से, एक ही सिल्ली से एक-जैसी वर्फ लाई जाए। क्योंकि उस-उस साधन के वर्तने से वर्फ के पिघलने की गति में अन्तर आ जाता है। शरीर की उम्र के सम्बन्ध में भी यही स्थिति देखी जाती है। कोई शरीर का सावधानी से प्रयोग करते हैं, तो कुछ जानवूझकर लापरवाही वर्तते हैं।

प्रतिदिन के अनुभवों और प्रमाणों से भी यह सिद्ध होता है कि अकालमृत्यु भी होती है, जो कि अपनी या दूसरों की गलतियों या यन्त्र आदि की खराबी से होती है। उदाहरण के लिए खेल के मैदान में हम देखते हैं कि प्रत्येक खेल के खेलने का अपनी-अपनी व्यवस्था के अनुसार समय निश्चित होता है। जहाँ अधिकतर खेल अपना-अपना समय पूरा

हो जाने पर खत्म होते हैं, वहाँ कई बार खिलाड़ियों या दर्शकों के विवाद से भी बीच में रुक जाते हैं, या खत्म हो जाते हैं। ऐसे ही कई बार मौसम आदि की बाधा के कारण खेल समय से पहले ही खत्म हो जाता है। 'खेल खत्म होना' मुहावरा मौत के लिए प्रयुक्त होता है, जिससे यह और भी अधिक स्पष्ट होता है कि मौत का समय कोई निश्चित नहीं है।

निःसन्देह अनेक शास्त्रों में अनेक ऐसे वचन मिलते हैं तथा ऐसी अनेक घटनायें सुनाई जाती हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक की मृत्यु का समय निश्चित है। इसी बात को भाग्य, लेख के नाम से पुकारते हैं। इस विषय में सर्वप्रथम योगदर्शन का एक सूत्र उपस्थित किया जाता है, जिसमें संकेत है कि जैसे किसी वृक्ष, पौधे के मूल (जड़) के ठीक होने पर उससे समय-समय पर अंकुर, पत्ते, टहनी, फूल, फल, आदि उभरते हैं, ऐसे ही किसी व्यक्ति के किये हुए कर्मों के कारण, उन कर्मों के अनुरूप जिस किसी प्राणी का शरीर, उम्र और सुख-दुःख आदि भोग मिलते हैं।[1] इस सूत्र या इस प्रकार के शास्त्रों के वचनों को सामने रख-कर निश्चित आयु का दावा किया जाता है। यदि इस सूत्र और प्रकरण पर ध्यान दें, तो यहाँ मूल बात यह सामने आती है, कि जो प्राणी जो भी कर्म करता है, किए जाने पर वह कर्म पहले क्रियमाण, फिर सञ्चित और तदनन्तर प्रारब्ध कोटि में जाता है।[2] प्रत्येक कर्म के अनु-रूप ही उसका फल होता है। वह फल चोला, आयु, भोग के रूप में होता है। यहाँ के प्रकरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जाति, आयु, भोग के क्रम से भी यही बात सिद्ध होती है कि जाति—मनुष्य, पशु,

---

१. सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः २-१३; ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्य-हेतुत्वात् २-१४—शुभ-अशुभ कर्मों के कारण ही वे (जाति-आयु-भोग) हर्ष-शोक, सुख-दुःखरूपी फल को देते हैं।

२. महर्षि दयानन्द सरस्वती ने कर्म के स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखा है—

कर्म—जो मन, इन्द्रिय और शरीर में जीव चेष्टाविशेष करता है, वह कर्म कहाता है, वह शुभ-अशुभ और मिश्र भेद से तीन प्रकार का है ॥४८॥ क्रियमाण—जो वर्तमान में किया जाता है, सो क्रियमाण कर्म कहाता है ॥४९॥ सञ्चित—जो क्रियमाण का संस्कार ज्ञान में जमा होता है, उसको सञ्चित संस्कार कहते हैं ॥५०॥ प्रारब्ध—जो पूर्व किए हुए कर्मों के सुख-दुःखरूप फल का भोग किया जाता है, उसको प्रारब्ध कहते हैं।

—(आर्योद्देश्य रत्नमाला)

पक्षी आदि का जैसा कर्मानुरूप शरीर मिलता है, उस शरीर के अनुरूप ही उसकी आयु होती है। यह सिर्फ शरीर की आयु की बात है, न कि इस शरीर में रहने की; जैसे जीव-विज्ञान में हर प्राणी के शरीर की अपनी-अपनी आयु आँकी गई है, जिसे औसत उम्र कहते हैं। यदि कोई उस शरीर को और अधिक व्यवस्थित ढंग से वर्तता है, तो उसकी उम्र औरों से अधिक होती है। यही बात हम अपने प्रतिदिन के व्यवहार में देखते हैं कि यदि किसी के साथ दुर्घटना नहीं घटती, तो सँभलकर चलनेवाले औरों से अधिक जीते हैं। अतः ऐसे स्थल पर उस-उस प्राणी के शरीर में लगे मसाले की दृष्टि से आयु का संकेत होता है कि यह शरीर इतने दिन औसतन रूप से चल सकता है। इसीलिए वेद में अनेक स्थलों पर मनुष्य की सामान्य आयु का एक सौ वर्ष का संकेत है। इसका अभिप्राय यही है कि यह शरीर इतने दिन सामान्य रूप से चल सकता है।

कौन-सी मृत्यु काल-मृत्यु है और कौन-सी अकाल-मृत्यु, इसका स्पष्टीकरण महर्षि वाल्मीकि-विरचित रामायण के एक श्लोक में मिलता है।[1] भाग्य को दैव, विधि भी कहते हैं। श्लोक में बताया गया है कि संसार में सदा अनेक तरह की घटनायें घटती रहती हैं। उनमें से कुछ इस प्रकार की होती हैं, जिनके घटने का कारण स्पष्ट होता है और कुछ का खोजने पर भी कारण समझ में नहीं आता, जैसेकि पंजाब में सन् ८१ से आज तक हजारों मौतें हुईं। हिंसा-प्रतिहिंसा की इन हजारों में से अधिकतम बिल्कुल स्पष्ट हैं कि ये किस भावना से किन्होंने हत्यायें की हैं। ऐसी मौतों को अकाल-मृत्यु और जिनका ढूंढने पर भी कोई कारण सामने नहीं आता, उन्हीं को स्वाभाविक, काल-मृत्यु मानना चाहिए।

इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि जीवन अनिश्चित और क्षण-भंगुर है। पर आश्चर्य तो यह है कि इतने पर भी अनेक इतराते नहीं थकते और दूसरों के साथ जैसे-कैसे घिनौने, शोषण और अन्याय-भरे व्यवहार करते नहीं शरमाते, जैसे कि ऐसा करनेवालों ने दुनिया में सदा रहने का पट्टा लिखवा रखा हो। ऐसे व्यक्तियों की चेष्टाओं को ध्यान में रखकर ही (महाभारतकार श्री वेदव्यास ने यक्ष-युधिष्ठिर के संवाद के रूप में एक आख्यान दिया है। इस अवसर पर) यक्ष ने अन्य

---

१. असंकल्पितमेवेह यदकस्मात् प्रवर्तते।
निवर्त्यारम्भमारब्धं ननु दैवस्य कर्म तत्॥ –अयोध्या काण्ड २२-२४

प्रश्नों के साथ एक प्रश्न यह भी पूछा था कि संसार में सबसे बड़ा आश्चर्य क्या है? इसका बड़े मार्मिक शब्दों में उत्तर देते हुए कहा है[1]—

इस दुनिया में चला-चली का मेला सदा चलता रहता है। (वारी आपो आपनी, जो आया सो चलसी—गुरुवाणी) परन्तु आश्चर्य तो यह है कि पीछे रहनेवाले सदा यहीं रहने की भावना जताते हुए प्रतीत होते हैं, जैसे कि उन्होंने सदा यहीं रहने का ठेका ले लिया है; परन्तु वास्तविकता तो यह है कि अनित्य पदार्थ एक रूप में नहीं रहते। वस्तुओं की नष्ट होने की भावना[2] हमें सचेत करती है कि वस्तुओं के प्राप्त होने पर वैभव में फूलकर न तो कुप्पा बनें और न ही वस्तुओं के अभावजन्य दुःख में घबराकर आत्महीनता अनुभव करें। क्योंकि—

सुख पाया तो इतरा जाना, दुःख पाया तो कुम्हला जाना।
यह भी क्या कोई जीवन है?

अपितु—

जिसको तुम जानो यह दुःख है, सहो उसे धीरज के साथ।
दुःख में सुख का अनुभव करना, है मनुष्य के अपने हाथ॥
दुःख तो मानव के जीवन की एक कसौटी है मानो।
इसमें जैसा रहे रंग, वैसा ही भाव उसका जानो॥
(श्रीधर पाठक—जग-सचाई-सार)

क्योंकि चक्रवत् ये पदार्थ और परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं[3] और

---

१. अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यमालयम्।
शेषाः स्थिरत्वमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥
—८-५६ चाणक्य राजनीतिशास्त्र

२. सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्॥
—रामायण, अयोध्या (१) १०५-१६

जो कुछ भी इकट्ठा हुआ है, वह एक दिन अवश्य ही नष्ट हो जाएगा। सारे-के-सारे ऊँचे-ऊँचे ढेर कभी-न-कभी ढह जाएँगे। जितनी भी जुड़ी हुई वस्तुएँ हैं, वे एक दिन अलग-अलग हो जायेंगी और जो पैदा हुआ है, उसकी मृत्यु अवश्य ही होगी।

मृत्युनैवेदमावृत्तम्—बृह० उप० १-२-१; यदिदं सर्वं मृत्युनाप्तम् ३-१-१; यदिदं सर्वं मृत्युगोचरम् ३-२-१ अर्थात् संसार के सारे भौतिक पदार्थ एक दिन मृत्यु का ग्रास बनते हैं।

३. चक्रवत् परिवर्तन्ते सुखानि दुःखानि च।

धूप-छाया की तरह सुख-दुःख, अमीरी-गरीबी सदा एक जगह टिकी नहीं रहतीं।

इसी के साथ आज की बैठक का उपसंहार करते हुए महात्मा जी ने कहा कि यह दुनिया चला-चली का मेला है।

ग्यारहवीं बैठक

स्वर्ण अवसर—

संगीतप्रिय जी के मधुर भजन के बाद आज के प्रवचन को प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रिय जी ने कहा—सत्संग में आनेवाले प्रिय सज्जनो! आपको स्मरण ही है कि इस 'जन्म-मरण की उलझन' के अनेक पहलुओं पर विचार करते हुए एक मन्त्र के दो चरण हमारे सामने आए हैं कि इस संसार के सभी पदार्थ अस्थायी हैं और हमारी यह काया भी नश्वर है। ये दोनों स्थितियाँ हमारे सामने अनेक पहलू उजागर करती हैं। इन्हीं स्थितियों को सामने रखकर ही साधुजन एक आख्यान सुनाते हैं कि—

एक राजा था, जो जनता की सुख-समृद्धि[1] के लिए या प्रजा को सुरक्षा, न्याय, स्वतन्त्रता देने[2] के लिए राज्य को राज्य नहीं समझता था, अपितु उसकी दृष्टि में राजा की सेवा-शुश्रूषा, आनन्द, मेले के लिए ही राज्य-व्यवस्था होती है। अतः राजा देश का नरशार्दूल, भूपति, नरपति, नृपति है, जैसे कि शेर जंगल का सर्वेसर्वा होता है, न कि भूप,

---

१. राजाप्रकृतिरञ्जनात्—रघुवंश ४-१२; प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः।

२. प्रजां न रञ्जयेद्यस्तु राजा रक्षादिभिर्गुणैः।
अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम्॥२३०॥ —पचतन्त्र ३
राजन् दुधुक्षसि यदि क्षितिधेनुमेनां, तेनाद्य वत्समिव लोकममुं पुषाण।
तस्मिंश्च सम्यगनिशं परिपुष्यमाणे, नानाफलं फलति कल्पलतेव भूमिः॥
—नीतिशतक ४६

राजन्! दुहना चाहते हो यदि तुम इस गौ को पृथ्वीरूप,
प्रजारूप इस बछड़े का तो पालन करो सदा हे भूप!
भली-भाँति से होने पर ही पालन इसका प्राण समान,
कल्पलता के सदृश भूमि यह विविध फलों का देगी दान॥
अनुवादक—गोपालदास गुप्त

भूपाल, नरपाल, जनपालक। इसीलिए वह कभी भी प्रजा की सुख-समृद्धि और विकास के लिए उस-उस क्षेत्र के विशेषज्ञों की समिति बनाकर उनके निर्णयों के अनुसार कोई कार्य करने की नहीं सोचता था, क्योंकि वह तो ठहरा—राजा के रूप में दूसरा भगवान् या साक्षात् ईश्वर[1]। राज्य-व्यवस्था कितनी भी अव्यवस्थित क्यों न हो, जनता जान-माल से असुरक्षित होकर कितना कष्ट क्यों न भोगे, उसे इसकी कोई परवाह न थी। उसको तो केवल एक ही चिन्ता सवार रहती थी कि किस प्रकार अधिक-से-अधिक धन-माल इकट्ठा करके अपनी खुशियाँ मनाई जायें।

एक बार राजा को एक शौक सूझा और उसने हर वर्ष एक व्यक्ति को महामूर्ख की उपाधि से विभूषित करने का निश्चय किया। अतः प्रतीकस्वरूप एक सुन्दर छड़ी तैयार कराई। राजा ने अपने गुप्तचरों को आदेश दिया कि कोई ऐसा व्यक्ति ढूँढा जाए जो इस दुनिया में रहते हुए भी दुनिया से अनोखा हो। बहुत दिनों की पर्याप्त खोज के बाद राजा के पास आकर एक अधिकारी ने सन्देश दिया कि, महाराज! हमने आपके आदेश के अनुरूप दिन-रात एक करके बहुत ढूँढा, पर आपकी बताई कसौटी के अनुकूल और तो कोई नहीं मिला, हाँ, नगर में प्रातः-प्रातः एक व्यक्ति आता है, जिसने केवल बहुत साधारण-से दो वस्त्र पहने होते हैं। वह प्रतिदिन मिलते-जुलते भावों वाले गीत के कुछ बोल बोलता हुआ गलियों में अलख जगाता है। उसके एक गीत के बोल ये हैं—

ये महल-दुमहले यहीं रहेंगे, ना संग तेरे कुछ जाएगा।
मुट्ठी बाँध के आया मूरख, हाथ पसारे जाएगा।
नेकी-बदी बस तेरा, एक अनमोल खजाना रे।।
नादान न कर पापों पे गुजर।
इक रोज यहाँ से जाना रे।।

---

१. 'राजा परं दैवतम्' तथा मनु० ६-४, ७ आदि स्मृतिशास्त्रों में राजा के अन्दर अग्नि, इन्द्र आदि देवों का अंश माना गया है। यूरोप के जिन देशों में राज-तन्त्र का जितना भी अंश है, उसमें यही देवभावना है। अतः उसके प्रति विद्रोह, अविश्वास निन्दनीय है।

सर्वदेवमयो राजा मनुना संप्रकीर्तितः।
तस्मात्तं देववत्पश्येन्न व्यलीकेन कर्हिचित्।।१२१।।—पंच० १
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति।—मनु० ६-८

चार्वाक दर्शन में राजा को ही साक्षात् ईश्वर माना जाता है।

ना जान कि तेरे पापों पर, कोई देखनेवाली नजर नहीं।
इस हत्यारे अन्धकार में, तुझे ही अपनी खबर नहीं।
मालिक की नजरों में मूरख, आसान नहीं छुप जाना रे।
माटी का यह रूप-रंग, माटी में मिल जाना रे॥
नादान न कर पापों पे गुजर।
इक रोज यहाँ से जाना रे॥

मिट्टी बन गई तेरी काया, कभी न जिस पर धूल लगी।
पड़ा रहा पापी तेरा, यह अनमोल खजाना रे।
नादान न इतना सोच सका, इक रोज यहाँ से जाना रे।
पानी का बुलबुला तेरी जिन्दगी, संसार मुसाफिरखाना रे॥
नादान न कर पापों पे गुजर।
इक रोज यहाँ से जाना रे॥

छीन के खुशियाँ मासूमों की, कब तक तू मुस्काएगा।
साँस बिरानी के बिरते पर, अमर नहीं हो पाएगा।
हत्या चोरी लूट का माल, यहीं सारा लुट जाना रे॥
नादान न कर पापों पे गुजर।
इक रोज यहाँ से जाना रे॥

नागरिकों ने प्रतिदिन निःस्वार्थ भाव से गानेवाले गायक के सादा वेश को देखकर अच्छे-से-अच्छे कीमती वस्त्र देने का प्रयास किया। परन्तु वह किसी से भी किसी प्रकार का उपहार नहीं लेता। अनेकों ने अनेक बार अनुनय-विनयपूर्वक भोजन का निमन्त्रण दिया, परन्तु उसने कभी स्वीकार नहीं किया। वह नगर से बाहर निर्जन वन में एक घास-फूँस की झोंपड़ी में वर्षों से रह रहा है।

अनेक धनियों ने वन में एक कुटिया बनवाकर देने की इच्छा प्रकट की। कुछ ने पलँग, बिस्तर देना चाहा, पर उसका एक ही दृढ़ उत्तर रहता—मुझे इन चीजों की बिल्कुल जरूरत नहीं है और फिर कभी भूलकर भी कुछ देने की इच्छा से इधर न आना। उसने अपनी झोंपड़ी के आस-पास स्वयं मेहनत से कुछ अन्न, फल, सब्जियाँ बोई हुई हैं। उनका ही केवल आहार करता है। किसी से भोजन तक भी नहीं लेता। अपनी मेहनत का रूखा-सूखा खाकर ही पर-सेवा तथा अपने अध्ययन, मनन, ध्यान और खेती में मस्त रहता है। कभी-कभी रास्ते की सफाई करते हुए और आस-पास वृक्ष लगाते हुए दीखता है। पास में ही रास्ता होने के कारण देर-सवेर से आनेवाले हर व्यक्ति को यथायोग्य सेवा-शुश्रूषा की सुविधा देता है। हमें तो दुनिया से यही अनोखा दिखाई देता है, जो

कि आपकी कसौटी पर बहुत-कुछ पूरा उतरता है।

राजा ने एक निश्चित दिन उस व्यक्ति को भरे दरबार में उपाधि और छड़ी से सम्मानित किया। उस दिन के बाद वह व्यक्ति महामूर्ख के नाम से (राजा की ओर से) पुकारा जाने लगा। कुछ समय के पश्चात् अपने असंयम के कारण राजा बहुत अधिक बीमार हो गया। 'भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधि:' के अनुसार उत्तमोत्तम इलाज करने पर भी राजा की हालत बिगड़ती चली गई; स्थिति यहाँ तक पहुँच गई कि किसी भी प्रकार में राजा के बचने की आशा न रही। तब जगदिखाई के लिए शिष्टाचारवश लोग राजा को पूछने के लिए विशेष रूप से आने लगे।

राजा की इस स्थिति की सूचना जब महामूर्ख समझे जाने वाले के पास पहुँची तो एक दिन अपनी छड़ी के साथ वह राजा के पास पहुँचा। हाल-चाल पूछने के बीच जब राजा ने कहा—बस अब तो चलने की तैयारी है, तब उस महामूर्ख समझे जाने वाले ने बड़े भोलेपन के साथ एकान्त देखकर पूछा—'राजन्, जहाँ आप जा रहे हैं, वहाँ कितने दिन के लिए जा रहे हैं और वहाँ से कब लौटेंगे ? तथा आपके साथ इन रानियों, सेविकाओं, मन्त्रियों, दरबारियों में से कौन-कौन जा रहा है ?' राजा ने हँसते हुए कहा, 'कोई भी नहीं।' 'राजन् ! तब तो जहाँ जाना है वहाँ के लिए आपने सारी तैयारी करा ली होगी ? आप तो राजा हैं, आपके पास बहुत-कुछ है, अत: आपने अच्छे-अच्छे सामान को साथ ले जाने के लिए कई ट्रक सामान लदवा लिया होगा ?' राजा ने खीझते हुए कहा—'इसीलिए तो तुझे महामूर्खता की छड़ी दी गई है। तुझे इतना भी नहीं पता कि वहाँ तो कुछ भी साथ नहीं जाता। यहाँ का सब-कुछ यहीं रह जाता है।' राजा का उत्तर सुनकर महामूर्ख ने और भी भोलेपन के साथ पूछा, 'राजन् ! इतना तो आप कम-से-कम बता दीजिए, आप कहाँ जा रहे हैं ? अपने गंतव्य का तो आपको पता ही होगा और उसके लिए तदनुकूल आपने सारी तैयारी कर ली होगी ?'

राजा ने एक ठण्डी आह भरते हुए कहा—'इसका तो किसी को भी कुछ नहीं पता कि मरकर कोई कहाँ जाता है। पर दु:ख तो यह है कि राजापन के अभिमान में रहने के कारण मैंने कभी ऐसा सोचा भी नहीं था, फिर उसकी तैयारी की तो बात ही क्या ?' तब उस महामूर्ख समझे जाने वाले ने आत्मविश्वास के साथ उस महामूर्खता की छड़ी को राजा के हाथ में थमाते हुए कहा—'राजन् ! ऐसी स्थिति में आपसे बढ़कर और कौन महामूर्ख होगा कि जिसको यह भी पता नहीं कहाँ जाना है ? आपकी ये रानियाँ, दरबारी, सारा सुख-सुविधा का सामान यहीं रहना

है, फिर भी सदा उन्हीं में ही डूबे रहे! हर प्रकार के अच्छे-से-अच्छे साधन और अवसर प्राप्त करके भी आगे की कोई तैयारी न कर सके! तब आपसे बढ़कर और कौन महामूर्ख हो सकता है? इसलिए अपनी इस अमानत (छड़ी) को अपने पास ही सम्भालिए। इसके सबसे अच्छे पात्र तो आप ही हैं, जो सब-कुछ प्राप्त करके भी अभागा ही बना रहा और अपने-आपे के लिए कुछ भी न कर सका'। सम्भवत: इसी स्थिति को सामने रखकर अपने भावों को चित्रित करते हुए हिन्दी के कवि श्री हरिवंश राय बच्चन ने अपनी कविता 'पथ की पहचान' में कहा है—

पूर्व चलने के बटोही, बाट की पहचान कर ले।
पुस्तकों में है नहीं छापी गई इसकी कहानी।
हाल इसका ज्ञात होता है न औरों की जवानी।।
अनगिनत राही गए इस राह से, उनका पता क्या?
पर गए कुछ लोग इस पर, छोड़ पैरों की निशानी।
वह निशानी मूक होकर भी बहुत कुछ बोलती है।
खोल इसका अर्थ, पंथी! पंथ का अनुमान कर ले।।
है अनिश्चित किस जगह पर, सरित, गिरि, गह्वर मिलेंगे।
है अनिश्चित किस जगह पर, बाग, वन सुन्दर मिलेंगे।
किस जगह यात्रा खतम हो जायगी, यह भी अनिश्चित।
है अनिश्चित कब सुमन, कब कंटकों के शर मिलेंगे।।
कौन सहसा छूट जायेंगे, मिलेंगे कौन सहसा।
पूर्व चलने के बटोही, बाट की पहचान कर ले।।

इस आख्यान के अनन्तर, इस कविता की कुछ पंक्तियों को कहने के बाद श्रोताओं पर दृष्टि डालते हुए सर्वप्रिय जी ने कहा—सज्जनो! इस प्रासंगिक अवसर पर क्षण-भर के लिए हम भी सोचें कि क्या हम भी कहीं उसी राजा की नकल तो नहीं कर रहे? इस कर्मभूमि में मानव-जैसे सुन्दर चोले को प्राप्त करके इसका कुछ लाभ उठाने का प्रयास करते भी हैं या केवल साधारण बातों में ही संसार में आने के स्वर्ण अवसर को वृथा गँवा रहे हैं? यह संसार एक महान् कर्मक्षेत्र है[1] और

---

१. कर्मभूमिमिमां प्राप्य कर्तव्यं कर्म यच्छुभम्।—रामायण १-१०९-२८
इस कर्मभूमि को प्राप्त करके श्रेष्ठ कर्म करने चाहिएँ।
प्राप्येमां कर्मभूमिं न चरति मनुजो यस्तपो मन्दभाग्यः।—नीति० १०१
जो इस कर्मभूमिरूपी संसार को प्राप्त करके भी यहाँ परिश्रम नहीं करता, वह मन्दभागी है। क्योंकि यहाँ सभी प्रकार की उपलब्धियाँ कर्म के ही अधीन हैं।—फलं कर्मायत्तम्—नीति० ९५

इसमें मानव-चोले की प्राप्ति 'सोने में सुहागे' वाली बात है। इस स्वर्ण-अवसर का लाभ उठाकर हम 'दोनों हाथों में लड्डू' होने की बात को भी चरितार्थ कर सकते हैं। इसीलिए योगदर्शनकार पतञ्जलि मुनि ने कहा है—यह संसार (और मानव-शरीर)—सांसारिक सुख-सुविधाओं=भोग एवं अपवर्ग=आत्मिक या पारलौकिक प्रगति का एक बहुत बड़ा साधन है।[1] यहाँ हम अपनी योग्यता से वर्तमान और भविष्य को सुन्दर बना सकते हैं। इन दोनों को उज्ज्वल बनाने का यह जीवन एक अनोखा अवसर है। इसीलिए महात्मजन एक कथानक सुनाते हैं—

किसी राज्य में एक राजा पितृवत् प्रजा का पालन करता था। उसके राज्य की सीमा पर एक बड़ी नदी बहती थी, जिसके पार एक भयंकर विशाल वन था। उस राजा का यह नियम था कि जिस व्यक्ति को राज्य-कार्य के लिए प्रधानमन्त्री-पद देता था, उसको पाँच वर्ष के पश्चात् नदी के पार छोड़ दिया जाता था। इस प्रकार अनेक मन्त्री बने और अन्त में रोते चले गए। एक बार एक विचारशील ने पूर्व-मन्त्रियों की स्थिति पर विचार करके प्रधानमन्त्री पद के लिए प्रार्थनापत्र दिया। स्वीकृत होने पर प्रधानमन्त्री के कार्य को प्रारम्भ कर दिया। उस विचारशील व्यक्ति ने अपनी नीति-निपुणता एवं योग्यता से राजा और प्रजा दोनों का ही मन जीत लिया। कार्यकाल के पूर्ण होने पर विदाई का दिन आया। जनता उसके प्रेमपाश में कृतज्ञतावश बँधकर विदाई देने आई। वन जाते समय पूर्ववर्तियों की तरह इस प्रधानमन्त्री को उदास-निराश न देखकर राजा ने उससे इसका कारण पूछा, तब उस विचारशील ने कहा—मैंने नियमपूर्वक प्रधानमन्त्री के कार्य को करते हुए आपकी शर्त को नहीं भुलाया था। मैंने जहाँ प्रधानमन्त्री-पद के अवसर का लाभ उठाकर राज्य की सुख-समृद्धि के लिए योजनाबद्ध कार्य किया, वहाँ भविष्य का ध्यान रखते हुए नदी के पार उस घनघोर जंगल में भी एक सुन्दर आधुनिक सुविधा-सम्पन्न नगर बसा दिया है। अतः शोकाकुल तो वह हो जिसका भविष्य धूमिल हो। मैंने तो स्वकार्य-काल में ही भविष्य का प्रबन्ध कर लिया है। अतः बड़ी प्रसन्नता के साथ आप सबसे विदाई ले रहा हूँ।

ठीक इसी प्रकार इस जीवन को प्राप्त करके इस स्वर्ण-अवसर का

---

१. भोगापवर्गार्थं दृश्यम् (योग २-१८)। पुरुषार्थ-चतुष्टय में धर्म के साथ अर्थ और काम भी हैं। वैशेषिक दर्शन और अन्य शास्त्रों में 'यतोऽभ्युदयनिः-श्रेयससिद्धिः स धर्मः' १-१-२, धर्म के दो रूप माने हैं।

लाभ उठाते हुए हमें जीवन के सामयिक विकास के साथ अग्रिम जन्म उत्तम रूप में प्राप्त करने के लिए भी यथासम्भव प्रयास करना चाहिये। इसीलिए वेद ने सचेत करते हुए मन्त्र के तीसरे चरण में कहा है— 'गोभाज इत् किल असथ' अर्थात् इस सुन्दर पार्थिव शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि अनोखे साधनों को रखनेवालो! क्या कभी इन अनोखे पृथिवी-सूर्य सदृश साधनों के सदुपयोग का भी प्रयास किया है? या केवल सदा स्वार्थ साधने या अभिमान के नशे में चूर रहते हो? तभी तो संस्कृत के एक कवि ने सावधान करते हुए कहा है[1]—

ये हर तरह के धन जमीनों (बैंकों) में, विविध प्रकार के पालतू पशु पशुशालाओं में, प्यारी प्रियतमा पत्नी घर के दरवाजे तक, बन्धु-बान्धव तथा परिचित जन श्मशान तक और यह बड़े चावों से पाला-पोसा शरीर चिता तक ही साथ देता है। आगे तो केवल सीप से निकले मोती की तरह नित्य आत्मा अपनी करनी के साथ ही जाता है।[2]

---

१. धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे, नारी गृहद्वार सखा श्मशाने।
देहश्चितायां परलोकमार्गे, कर्मानुगो गच्छति जीव एषः ॥

२. नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥—मनु० ४-२४२

परलोक में सहायता के लिए न तो माता, पिता, पुत्र, पत्नी सहायक बनते हैं और न ही जाति के लोग। हाँ, केवल धर्म=(अपनी करनी) ही सहायक होकर साथी बनता है।

एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥२४३॥

आत्मा अकेला ही पैदा होता और मरता है, अकेला ही अपने अच्छे-बुरे (किये) का फल भोगता है।

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥२४४॥

लकड़ी, मिट्टी के टुकड़े की तरह मृत देह को चिता में छोड़कर बन्धु-बान्धव घर लौट जाते हैं, अकेला धर्म ही आत्मा का साथ देता है।

अन्यो धनं प्रेतगतस्य भुंक्ते वयांसि चाग्निश्च शरीरधातून्।
द्वाभ्यामयं सह गच्छत्यमुत्र पुण्येन पापेन च वेष्टमानः ॥
—महा० उद्योग० ४०-१६

मरे हुए के धन को दूसरे वर्तते हैं और उसके शरीर एवं रस, रक्त आदि धातुओं को पक्षी तथा अग्नि ठिकाने लगाते हैं। यह केवल अपने किए अच्छे (पुण्य) और बुरे (पाप) के साथ ही दूसरे शरीर की ओर जाता है।

बारहवीं बैठक

पिछली बैठक के विचारों को सामने रखकर संगीतप्रिय जी ने मानव-चोले की महिमा का एक मधुर भजन से गुणगान किया और दूसरे गीत में इस स्वर्ण-अवसर का सदुपयोग करनेवाले कुछ विशेष व्यक्तियों का स्तवन किया। मंच पर आसन ग्रहण करने के अनन्तर सर्वप्रिय जी ने 'अश्वत्थे वो…' मन्त्र के एक-एक शब्द को सस्वर पढ़ते हुए चौथे चरण 'यत्सनवथ पूरुषम्' का संगीतमय गान किया। तब प्रवचन को प्रारम्भ करते हुए कहा—

जीवन का उद्देश्य—मानव-जीवन या जन्म के अनोखे अवसर के उद्देश्य की ओर ध्यान दिलाते हुए ही मन्त्र ने कहा है 'यत् सनवथ पूरुषम्' कि अधिक से अधिक पूर्णता को प्राप्त करने का प्रयास करो। वस्तुतः हमारा जीवन एक नाटक या खेल के समान है। नाटक का पात्र (अभिनेता) रोते-हँसते हुए भी भीतर से न रोता है, न हँसता है। वैसे नाटक के पात्र दो तरह के होते हैं, एक तो वे जो केवल गाल बजाते हैं, हाथ मटकाते हैं, पर जिनके मन पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। उनकी सामान्य मनोवृत्ति दृश्य के साथ तादात्म्य (मेल) नहीं बैठाती; अतः वे सफल खिलाड़ी नहीं। सफल खिलाड़ी वही हो सकता है, जिसकी बाह्य वृत्ति और सामान्य मनोवृत्ति दृश्य के अनुरूप होती है। वह सचमुच रोता है, हँसता है, पुनरपि उसके रोने-हँसने पर भी उसकी आन्तरिक विशेष मनोवृत्ति न रोती है, न हँसती है। वह केवल इतना विचार करता है कि मेरा खेल अच्छा हो।

खेल में एक अच्छा खिलाड़ी खेल को 'खेल के लिए' खेलता है। वह अपने साथियों से सहयोग करता है। अपने नायक की आज्ञा का पालन करता है। वह खेलानेवाले के निर्णय का आदर करता है। वह जीतने के लिए अनुचित ढंग नहीं अपनाता; बिना झुंझलाहट के अपनी हार को स्वीकार करता है। इस प्रकार वह हर तरह से अच्छे व्यवहार का प्रदर्शन करता है और जीत-हार को शान्ति के साथ सहता है; नियम भंग नहीं करता। खेल को उतने ही क्षेत्र, समय तक समझता है, सदा के लिए नहीं। इसी तरह जीवन को भी खेल समझकर, सुख-दुःख को शान्ति के साथ सहना चाहिए और उसे तात्कालिक मानकर, सुख-

प्राप्ति एवं दुःख-निवृत्ति का उपाय करना चाहिए। जीत (सुख) में अहंकार करना तथा अहंकारवश दूसरों पर अत्याचार करना और हार (दुःख) में घबराना, उदास-निराश-हताश होना और आत्महीनता अनुभव करके अन्याय सहना उचित नहीं है।

अतः जीवन को नाटक या खेल समझकर उसमें हर प्रकार की कुशलता और सफलता प्राप्त करने में ही पूर्णता कही जा सकती है।[1] जब व्यक्ति हर प्रकार के शोषण, अन्याय से मुक्त होकर सुख, शान्ति, आनन्द को प्राप्त करता है, तभी वह कुछ अंशों में अपने-आपको पूर्ण एवं तृप्त अनुभव कर सकता है। जैसे किसी खेल में जब एक खिलाड़ी को खेलने का अवसर प्राप्त होता है, यदि वह वहाँ अपनी निपुणता एवं योग्यता प्रस्तुत करता है, तो उससे उसको जहाँ सफलता, प्रशंसा, प्रोत्साहन प्राप्त होता है, वहाँ भविष्य में भी उसका अच्छा अवसर सुरक्षित होता है। जैसे कि क्रिकेट में उच्च स्तर पर जब पहला अवसर कपिल, रवि शास्त्री, सचिन तेंदुलकर आदि को मिला, तब उन्होंने इस अवसर का लाभ उठाते हुए केवल सभी से प्रशंसा ही प्राप्त नहीं की, अपितु भविष्य के लिए खेल में अपना स्थान भी सुरक्षित बनाया। ठीक इसी प्रकार मानव-जीवन के माध्यम से हमें एक ऐसा स्वर्ण-अवसर प्राप्त होता है कि इसमें जहाँ हम सामयिक जीवन को पूर्ण विकसित बनाने में समर्थ हो सकते हैं, वहाँ अपने इस जन्म के शुभ कर्मों से भावी जन्म को भी अच्छे रूप में सुरक्षित कर सकते हैं। इसी में किसी के जीवन के उद्देश्य की सार्थकता कही जा सकती है। अतः मानव-जन्म के रूप में आना व्यक्तित्व के विकास का स्वर्ण-अवसर है।

मानव-जीवन की सफलता का एक सरल साधन है—सेवा, जिसको प्रत्येक प्रकार का व्यक्ति अपनी स्थिति के अनुसार अपना सकता है। दूसरों के दुःख में तन-मन-धन और सद्भाव-सद्वचन से उनकी सहायता करना ही किसी की सेवा है, या जिसकी जैसी जरूरत

---

१. परिवर्तनि संसारे मृतः को वा न जायते।
जातस्तु गण्यते सोऽत्र यः स्फुरत्यन्वयाधिकम् ॥२७॥ पंच० १
जातस्य नदीतीरे तस्यापि तृणस्य जन्मसाफल्यम्।
यत्सलिलमज्जनाकुलहस्तावलम्बनं भवति ॥२८॥—पंच० १
यस्मिञ्जीवति जीवन्ति बहवः सोऽत्र जीवति।
वयांसि किन्न कुर्वन्ति चञ्च्वा स्वोदरपूरणम् ॥२३॥—पंच० १
धन्योऽस्ति को ? यस्तु परोपकारी।—शंकराचार्य

है, उसकी उस जरूरत को यथाशक्ति यथायोग्य सहायता देकर पूर्ण करना भी किसी की सेवा है। दूसरों के कष्ट, क्लेश, पीड़ा को दूर करना और आपत्ति में किसी के काम आना, यह किसी मानव की शुभ कर्मरूपी मूल पूँजी है, जिससे वह अपने पुण्य, यश का अर्जन करता है। यह न केवल समाज की समृद्धि का साधन है, अपितु सेवा करनेवाले के अच्छे भावी जन्म का भी मूल है।[१] परसेवा से अनेक प्रकार के मेवे (शान्ति, सन्तोष, यश, धर्म) मिलते हैं। अतः सेवा किसी के जीवन की सफलता और कृतकृत्यता का सरल, सच्चा साधन है, क्योंकि सेवा किसी के जीवन को जहाँ सार्थक बनाती है, वहाँ इससे सेवक का जीवन ऊँचा और पवित्र भी बनता है।

मानव-समाज की जरूरतों की विविधता के कारण सेवा का क्षेत्र बहुत विशाल है। पर किसी की सेवा तभी चरितार्थ हो सकती है, जब किसी व्यक्ति के दिल में दूसरों, दुःखितों, पीड़ियों के प्रति प्रेम, दया, करुणा, सहिष्णुता और सहयोग की भावना होती है। सेवा करने के लिए व्यक्ति में तप, त्याग, कष्ट-सहन और धैर्य होना चाहिए। त्याग, कष्ट-सहन और धैर्य जिसमें जितने अधिक होते हैं, वह ही सेवा के क्षेत्र में उतना अधिक सफल होता है। एक सेवक को बहुत-कुछ सहना और सुनना पड़ता है, इसीलिए सेवा को एक कठिन कर्म भी कहा जाता है।[२] सेवामूर्ति के रूप में माता का स्थान सर्वोपरि है, जिसमें सेवक का पूर्ण रूप देखा जा सकता है। इसीलिए सेवा-हित साक्षात् मूर्ति के रूप में

---

१. संक्षेपात्कथ्यते धर्मो जनाः किं विस्तरेण वः।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥१०२॥ —पंच० ३

परहित सरस धर्म नहीं भाई। (तुलसी) कर्मफल की व्यवस्थानुसार परहित-सदृश शुभकर्मों से ही शुभ फल प्राप्त होता है।

२. मौनान्मूकः प्रवचनपटुर्वाचिको जल्पको वा,
धृष्टः पार्श्वे वसति च तदा दूरतश्चाप्रगल्भः।
क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः,
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥—नीति० ५८

मौन रहे तो मूक कहावे, प्रवचनपटु तो मुखर महान्।
पास रहे तो धृष्ट कहावे, दूर रहे तो अति अनजान ॥
सहनशील तो भीरु कहावे, जो न सहे कुलहीन अधीर।
योगीजन को भी अति दुर्गम, सेवा धर्म परम गम्भीर ॥

—गोपालदास गुप्त

सभी के हृदयों में माता के लिए अगाध श्रद्धा होती है।

वस्तुतः मानव-जैसे अनमोल चोले को प्राप्त करके हमें सोचना चाहिए कि हमने अपने जीवन के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए उसके पथ पर कुछ प्रस्थान किया है[1] या केवल हेरा-फेरी में ही जीवन की इतिश्री मानकर बैठ गए हैं ? मौत का चक्र हमें सावधान करता है कि जिस उद्देश्य से यह मानव-देह मिला है, जल्दी-से-जल्दी उस लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयास करें। न जाने किस घटना के कारण कब मौत आ जाए और तब हम केवल हाथ मलते ही न रह जायें कि हमने तो अभी कुछ इसका लाभ ही नहीं उठाया। तभी तो श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर ने लिखा है—"मृत्यु की मोहर जीवन के सिक्के को विशेष मूल्य प्रदान करती है, ताकि हम जीवन से वह सब प्राप्त कर सकें, जो कि सचमुच मूल्यवान् है।" हाँ, मृत्यु की मोहर हमारे जीवन-सिक्के को उसी प्रकार विशेष मूल्यवान् बनाती है, जैसे कि डाकखाने की मोहर व्याजार्थ पास-बुक दे दिए जाने पर तदर्थ मिलने वाली चिट को मूल्यवान् बना देती है। इसी भाव को सामने रखकर श्री भर्तृहरि ने कहा है[2]—जब तक शरीर स्वस्थ है, जब तक बुढ़ापा नहीं सताता और इन्द्रियाँ शक्तियुक्त हैं तथा जीवनचर्या ठीक प्रकार से चल रही है, इन्हीं दिनों ही विचार-शील को अपनी भलाई और जीवन की पूर्णता के लिए विशेष यत्न करना चाहिए; अन्यथा घर में भयंकर आग लग जाने पर जैसे कुआँ खोदने के लिए सामग्री जुटाना बेकार है, ठीक वैसे ही प्राण-पंछी के उड़ जाने पर गीता और गरुड़ पुराण का पाठ सुनाने और उसकी पवित्रता, सद्गति के लिए यज्ञ, दान, पुण्य, ब्रह्मभोज का क्या लाभ ? दूसरों की सहायता करना बहुत अच्छी बात है, पर इसका अनुपस्थित आत्मा की पवित्रता से क्या सम्बन्ध ?

विद्या के अपार विस्तार[3] की तरह संसार में जीवन के कार्य-क्षेत्रों

---

१. इसके विशेष विवेचन के लिए 'सुखी कैसे रहें ?' का सामाजिक कर्त्तव्य प्रकरण देखिए।

२. यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा,
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्,
संदीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥—वैराग्य ८२

३. अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रम्, स्वल्पं तथायुर्बहवश्च विघ्नाः।
सारं ततो ग्राह्यमपास्य फल्गु, हंसैर्यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात्॥
—पंच० कथामुख १

का कोई अन्त नहीं है, परन्तु आयु सीमित है और उसपर उसको हड़पने वाले विघ्न पग-पग पर हैं। अतः जैसे हंस फोक को छोड़कर सार को अपनाता है, वैसे ही जीवन की सफलता के लिए अपनी रुचि के अनुकूल किसी भी क्षेत्र में कोई साध साधने में जुट जाना चाहिए। अन्यथा 'चिड़ियों ने चुग जब खेत लिया, फिर पछताए क्या होवत है?' के अनुसार यदि समय पर ध्यान न दिया तो बाद में पछताने का क्या लाभ? अर्थात् फिर कुछ हाथ न लगेगा। इसीलिए विचारकों ने सावधान करते हुए क्या ही मार्मिक कहा है—मृत्यु का ध्यान रखते हुए सदा अच्छाई का आचरण करो[1], क्योंकि सबके शरीर मरणधर्मा हैं; यह धन भी सदा रहनेवाला नहीं। यतोहि सबके सिर पर मृत्यु सदा सवार है, अतः हमेशा ही अच्छाई में जुटे रहना चाहिए।[2] एतदर्थ होश सँभालते ही भले काम शुरू कर देने चाहिएँ, पता नहीं किसकी कब मृत्य हो जाए, क्योंकि जीवन अनिश्चित है।[3] अतः जो 'पराये उपकार करने में लगे रहते हैं, वे नर-नारी धन्य हैं।'

—सत्यार्थ प्रकाश समु० ३, पृ० ४८।

यदि कहीं तुमसे परमार्थ हो—
यह विनश्वर देह कृतार्थ हो।
सदय हो, पर-दुःख हरो, उठो,
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो॥

—मैथिली शरण गुप्त

'सच तो यह है कि इस अनिश्चित क्षणभंगुर जीवन में पराई हानि करके लाभ से स्वयं रिक्त रहना व अन्य को रखना मनुष्यपन से बाहिर है।'—सत्यार्थ० अनुभूमिका-४।

इसलिए मानव-जैसे अनमोल चोले को प्राप्त कर प्रत्येक को ऐसे कार्य अवश्य करने चाहिएँ, जिससे याद करनेवाले कह सकें कि—

हँस के जिया कोई, कोई रोके जिया।
मगर जिन्दगी पाई उसने, जो कुछ होके जिया॥

अथवा

---

१. गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्।

२. अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्त्तव्यो धर्मसंग्रहः॥६५॥—पंच० ३

३. युवैव धर्मशीलः स्यादनित्यं खलु जीवितम्।
को हि जानाति कस्याद्य मृत्युकालो भविष्यति॥

यूँ फूल तो गुलशन में खिलते हैं हजारों ही।
हो जिसमें भरी खुशबू, मरना तो उसी का है॥

या किसी दूसरे के जीवन को देखकर कभी किसी को कहना न पड़े—

यह जीवन भी क्या जीवन है, पैदा होना और मर जाना !

अन्यथा, फिर पछतावे में पड़कर किसी को यह गुनगुनाने के लिए विवश होना पड़ेगा—

मेरा जीवन काम न आया, जैसे सूखे पेड़ की छाया।

जो मानव-जीवन जैसे अनोखे अवसर को प्राप्त करके भी उसका लाभ नहीं उठाते, ऐसों को ही ध्यान में रखकर सम्भवतः कबीर ने कहा है—

बड़ा हुआ तो क्या हुआ, जैसे पेड़ खजूर।
पंछी को छाया नहीं, फल लागे अति दूर॥

क्योंकि जो जीवन किसी के काम नहीं आता, अर्थात् जो कभी किसी का भला नहीं करता, वस्तुतः उसी जीवन का चित्रण करते हुए कहा है—

रात गँवाई सोयकर, दिवस गँवायो खाय।
हीरा जनम अमोल था, कौड़ी बदले जाय॥

इस सारे विवेचन का भाव यह है कि मानव-जीवन की सफलता जीवन को उत्कृष्ट बनाने, पर-उपकार करने[1], किसी दूसरे के दुःख दूर करने[2] और ईमानदारी से सच्चा-सुच्चा जीवन व्यतीत करने में ही है।

आज के प्रवचन का समापन करते हुए सर्वप्रिय जी ने कहा—सज्जनो ! पंजाब में जो खेदजनक वातावरण बना हुआ है, उसके कारण अनेक तरह की राजनैतिक, सामाजिक, प्राशासनिक और दार्शनिक आशंकायें एक विचारशील के मन में उभरती हैं। उनमें से दार्शनिक आशंकाओं को सामने रखकर, जन्म-मरण की उलझन के अनेक पहलुओं पर पिछले प्रवचनों में हमने कुछ विचार किया है और इसी प्रसंग में यजुर्वेद के एक मन्त्र पर कुछ क्रमशः विवेचन किया। आज की बैठक को समाप्त करने से पहले इस मन्त्र के अर्थ को एक बार फिर दुहरा लें।

---

१. जीविते यस्य जीवन्ति विप्रा मित्राणि बान्धवाः।
सफलं जीवितं तस्य, आत्मार्थे को न जीवति॥

२. न कामये राज्यं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता।
गोभाज इत् किलासथ यत्सनवथ पूरुषम्॥

दुनियावालो ! तुम्हारी इस दुनिया के किसी पदार्थ का कोई भरोसा नहीं कि वह कल रहेगा या नहीं, क्योंकि ये सारे भौतिक पदार्थ नाशवान् हैं और पत्ते की तरह गिरनेवाले शरीर में तुम्हारा बसेरा है। हे आँख-कान एवं पार्थिव पदार्थों का भोग करनेवालो ! इस मानव-चोले को प्राप्त करके इसे सफल बनाने का यत्न करो।

एक अन्य मन्त्र में इन्हीं भावों को इस रूप में कहा है—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।
ओम् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतं स्मर॥

हम सबकी आत्मा अजर-अमर है। यह न तो धरती की चीजों की तरह जलती है और न ही गलती या सूखती है। परन्तु हम सबका शरीर एक दिन आग में जलकर राख हो जाता है। इसलिए इस सुन्दर जीवन को देनेवाले भगवान् को कभी तो याद करो और सोचो, उसने तुम्हें कितना सुन्दर जीवन तथा जगत् दिया है और इसको प्राप्त करके तुमने आज तक क्या कमाया है ?

यह तन तेरा तरुवर है, नेकी एक क्षीर सागर है,
इस तरुवर के फल खा जा रे, दुनिया से जानेवाले।
यह धन यौवन संसारी है, दो दिन की फुलवारी,
कोई खुशरंग फूल खिला जा रे, दुनिया से जानेवाले।
तुझसे धन अन्त छुटेगा, जाने किस राह लुटेगा,
इसे परहित हेत लगा जा रे, दुनिया में आनेवाले।
जग-सेवा है सुख-देवा, कर दीन-दुखी की सेवा,
यश पाना है तो पा जा रे, दुनिया से जानेवाले।
यह कंचन काया तेरी, हो अन्त राख की ढेरी,
इससे जो वने बना जा रे, दुनिया से जानेवाले।

—जीवानन्द

तेरहवीं बैठक

जीवन-ज्योति—

संगीतप्रिय जी के संगीत के पश्चात् सर्वप्रिय जी ने आज की चर्चा को चलाते हुए कहा—पिछली दो बैठकों की विचारधाराओं को सामने

रखकर एक विचारशील इस मानव-जीवन पर स्वर्ण-अवसर की भावना से गम्भीरता के साथ जब विचार करता है, तो आध्यात्मिक दृष्टि से यह बात स्पष्ट होती है कि—मानव-जीवन की सार्थकता, पूर्णता का भाव है, अपनी आत्मा की लौ को उस परम पिता परमेश्वर की लौ के साथ मिलाना है, क्योंकि परम ज्योति से ही जीवन-ज्योति जगमगाती है।[1] आध्यात्मिक दृष्टि से इस मानव-चोले को प्राप्त करने का एकमात्र उद्देश्य है—ईश्वरभक्ति, उपासना, अर्चना, पूजा द्वारा ईश्वर के दर्शन, जगदीश्वर की प्राप्ति, मोक्ष[2]—परमधाम की उपलब्धि। इसी भाव को दर्शाते हुए केन उपनिषद के ऋषि ने कहा—

यदि इस मानव-चोले को प्राप्त करके मानव-जीवन के परम उद्देश्य-भूत परमेश्वर के दर्शन प्राप्त कर लिये तो सब-कुछ प्राप्त कर लिया।[3] यदि उसके दर्शन नहीं किए, तो इस मानव-जीवन में आकर भी एक बहुत बड़ा घाटे का सौदा ही किया है। अतः अपने चारों ओर फैले हुए इन नालियों और गन्दगियों में सड़ते-बिलखते प्राणियों पर एक नजर डालो, गहराई के साथ कुछ उनके हाल पर विचार करो। इन प्राणियों की करुणाजनक स्थिति को विचारते हुए मानव-जीवन के महान् लक्ष्य को साधने का जिसने भी प्रयास किया, वस्तुतः उसने ही अमर पद प्राप्त कर लिया और उसी का ही मानव-जन्म प्राप्त करना सार्थक कहा जा सकता है। इसी भाव को पुष्ट करते हुए गुरु नानकदेव जी ने कहा है—

---

१. अग्निना अग्निः समिध्यते।—ऋ० १-१२-६

२. बड़े भाग मानुष तन पावा, सुर दुर्लभ सब ग्रन्थन गावा।
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा, पाइ न जेहि परलोक सवारा॥
सो परत्र दुःख पावइ, सिर धुनि-धुनि पछताइ।
काल ही कर्म हि ईश्वरहिं, मिथ्या दोष लगाइ॥—रामचरितमानस

दुर्लभ देह पाए मानुष की—गुरुवाणी; गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि, न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्—महा० शान्ति २९२-२०; मानुष्यं सर्वथा तात शोभनम्—महा० शान्ति २९७-३१; इयं हि योनिः प्रथमा यां प्राप्य आत्मा वै शक्यते त्रातुं कर्मभिः शुभलक्षणैः॥३२॥ यो दुर्लभतरं मनुष्यं॥३४॥ भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः, प्राणिनां बुद्धिजीविनः। बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठाः—मनु० १-९६

३. इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, नो चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥२-२-५॥

सब्भाँ जिआँ का इक्को दाता, सो मे विसर न जाइ।
इक्को सिमरिया नानका, जल-थल रहा समाय।
दूजा क्यों सिमरिया, जो जम्मे ते मर जाए।

इसी विषय पर जब कुछ और अधिक गम्भीरता के साथ हम विचार करते हैं, तो हमारे सामने स्पष्ट होता है कि मानव की तो वात ही क्या प्रत्येक प्राणी मृत्यु की अपेक्षा जीवन (अमृत) की इच्छा करता है तथा उसकी प्राप्ति के लिए सर्वविध प्रयत्न करता है, और उसकी यह चाह स्वाभाविक है। इसी भावना को प्रकट करते हुए यजुर्वेद में कहा है—

कल्याणकारक, पुष्टिकर्ता, सर्वद्रष्टा की हम पूजा करते हैं, आराधना और अर्चना करते हैं। जैसे सुगन्धित, पुष्टिकारक खरबूजा स्वाभाविक रूप से अपने डण्ठल से अलग हो जाता है, ऐसे ही हम सरलता से मृत्यु के वन्धन से मुक्त होकर अमृत को प्राप्त हों।[1]

यह केवल इच्छा की ही बात नहीं, यदि हम संसार के व्यवहार पर गहराई से विचार करें, तो हमारे सामने यह बात स्पष्ट होती है कि सब अपने-अपने ढंग से मृत्यु से बचने-बचाने या मौत को दूर करने में लगे हुए हैं। जैसे कि कृषक अपने खेतों में दिन-रात एक करके कृषि-प्रक्रिया से जो अच्छी-से-अच्छी फसल प्राप्त करने में जुटे हुए हैं, इसका सबसे बड़ा परिणाम यही होता है कि सबको अन्न आदि प्राप्त होते हैं, तब इससे वह स्वयं और दूसरों को भूख के कारण होने वाली मौत से बचाते हैं। जीने के लिए जैसे भोजन की व्यवस्था वहुत जरूरी है, ऐसे ही वस्त्र, भवन, चिकित्सा आदि की व्यवस्था भी आवश्यक है। ये सारी व्यवस्थायें मानव-समाज को मौत के मुँह से बचाकर अमृत की ओर ले जाती हैं। इन सारी व्यवस्थाओं के लिए सहयोग देने वाले कृषक, पाचक, जुलाहे, दर्जी, राज, दुकानदार, उद्योगपति, डॉक्टर, शिक्षक, राजनीतिज्ञ एवं प्रशासक आदि सारे-के-सारे दुनिया को मौत के मुँह से वचाने के लिए अपने-अपने ढंग से प्रयत्न कर रहे हैं। यदि ये सब लोग अपना-अपना कार्य न करें, तो दुनिया का सारा जीवन ठप्प हो जाए। अतः संसार में अधिकतर कारोवार मृत्यु को परे धकेलने के लिए ही हो रहा है। निःसन्देह मृत्यु अवश्यम्भावी है, अतः वह पूरी तरह से हटाई नहीं जा सकती, क्योंकि यह एक अटल नियम है कि हर बनने वाली

---

१. त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव वन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्॥३-६०॥
मृत्योर्माऽमृतं गमय।—वृहदारण्यक उप० १-३-२८

वस्तु एक-न-एक दिन नष्ट अवश्य ही होती है।[1] हाँ, मृत्यु को केवल परे ही धकेला जा सकता है, इसके लिए ही संसार का सारा कारोबार हो रहा है और चिकित्साशास्त्री सिरतोड़ मेहनत कर रहे हैं। जैसे कि यदि कोई भोजन न करे तो वह जल्द ही जान-बूझकर अपनी मौत आप बुला लेता है, और जब कोई चिकित्साशास्त्र की प्रक्रिया के अनुसार सूझ-बूझ से पथ्यापथ्य को अपनाता है, तो वह मौत को परे-से-परे धकेलता है।

दीर्घ आयु की इसी सार्वभौमिक, सार्वकालिक चाह की ही चर्चा करते हुए यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय (ईशावास्योपनिषद्) में विद्या-अविद्या के प्रसंग में मृत्यु को परे धकेलकर अमृतत्वप्राप्ति की प्रक्रिया और उसका क्रम बताया गया है। आजकल अविद्या शब्द उल्टी विद्या के अर्थ में प्रचलित हो गया है। परन्तु इस प्रकरण में अविद्या शब्द दुनियावी ज्ञान, कारोबार के अर्थ में है। तभी तो कहा है—अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा=अविद्या से मृत्यु को पार करके, अर्थात् अविद्या को यहाँ मृत्यु से तारने का साधन बताया गया है।[2] उलटी विद्या से तो उलटा

---

१. जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च।—गीता २-२७
मृत्योर्बिभेषि किं बाल न स भीतं विमुञ्चति।
अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः ॥४२३॥—पंच० १

२. अन्धन्तमः प्रविशन्ति ये ऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रताः ॥९॥
अन्यदेवाहुर्विद्याया अन्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥
विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद् वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥११॥

वे घोर अन्धकार को प्राप्त होते हैं, जो अविद्या की उपासना करते हैं, अविद्या का सेवन करते हैं; और वे तो और भी अधिक अन्धकार को प्राप्त होते हैं, जो केवल विद्या की उपासना करते हैं। जिन्होंने इसका हमारे लिए विवेचन किया है, उन धीरजनों से हम इन दोनों का अन्य ही परिणाम सुनते हैं और वह है—जो विद्या और अविद्या को एक-साथ (सहयोगी रूप में) जानता है, वह अविद्या द्वारा मृत्यु को पार करके विद्या से अमृत को प्राप्त करता है। (विशेष 'अमृत दर्शन' में देखें)

ठीक ऐसा ही वर्णन सम्भूति-असम्भूति का भी वहाँ पर है। उस वर्णन से विद्या-अविद्या और सम्भूति-असम्भूति दोनों जोड़े परस्पर क्रमशः पयार्यवाची सिद्ध होते हैं। अर्थात् विद्या=सम्भूति, अविद्या=असम्भूति (विनाश) का वाचक है।

मौत और जल्दी आ घेरती है। यह जितना दुनियावी भौतिक विज्ञान का कारोबार है, इसके माध्यम से आज किस प्रकार दुनिया को अन्न, वस्त्र, भवन आदि के अभाव, दुःख, रोग से होने वाली मृत्यु से बचाया जा रहा है, यह किसी से छिपा हुआ नहीं है। तभी तो आज कृषि-विज्ञान अधिक अन्न आदि उत्पन्न करके भूख से मरतों को मौत के मुँह से बचा रहा है। अतः यहाँ अविद्या शब्द का अर्थ है भौतिक विज्ञान, दुनियावी कारोबार, जो कि आज के जीवन को बचाने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसको वेद, उपनिषद् आदि अध्यात्म-शास्त्रों के शब्दों में अविद्या शब्द से पुकारा गया है। विद्या का अर्थ है ज्ञान, विशेषतः अध्यात्म-ज्ञान; उससे भिन्न और विपरीत दोनों के लिए अविद्या शब्द का समान रूप से प्रयोग हो सकता है।

यजुर्वेद में इस चर्चा को जहाँ विद्या-अविद्या के नाम से कहा गया है, वहाँ मुण्डक उपनिषद्[1] में विद्या के दो भेदों को परा और अपरा के नाम से स्मरण किया है। यहाँ (परा) विद्या शब्द सामान्य अक्षरज्ञान के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ, अपितु अध्यात्म-ज्ञान का वाचक है।[2] भारतीय दर्शन आदि शास्त्रों में विद्या=ज्ञान का जो महत्त्व, तथा वहाँ जो उसके विशेषणवाचक शब्द आए हैं, उनसे भी यही प्रमाणित होता है।[3] मनुस्मृति में इसीलिए धर्म के दस लक्षणों में विद्या को प्रतिष्ठित स्थान दिया गया है।[4] मनुस्मृति में अनेकत्र विद्या शब्द प्रायः अध्यात्म-ज्ञान के अर्थ में ही प्रयुक्त किया गया है।[5] अतएव उसके महत्त्व को

---

१. द्वे विद्ये वेदितव्ये। इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति। परा चैवापरा च।
तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेद···। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते॥
—१-१-४-५,

२. अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।—मुण्डक १-१-५

३. तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्—न्याय, वैशेषिक। ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः। ज्ञानान्मुक्तिः —सांख्य ३-२३। विद्या हि का? मुक्तिप्रदा या—शंकराचार्य-प्रश्नोत्तरी।

४. धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥६-९२॥

५. विद्यातपोभ्यां भूतात्मा (५-१०९)=सभी प्राणियों की आत्मा आत्मज्ञान और योगाभ्यास से संस्कृत होती है। सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्। तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः॥१२-८५=अन्य सबकी अपेक्षा आत्मसम्बन्धी ज्ञान सर्वोत्कृष्ट है और वह ही सारी विद्याओं में प्रमुख है, क्योंकि उसी से ही अमृत की प्राप्ति होती है।

बताते हुए कहा गया है—योग द्वारा आत्मदर्शन करना परम धर्म है।=(कर्त्तव्य) है,[1] क्योंकि यजुर्वेद (३१-१८) के अनुसार ऐसा करके आत्मज्ञान द्वारा ही व्यक्ति मृत्यु को पार करके अमृतत्व को प्राप्त करता है। मृत्यु से बचने और अमरत्व प्राप्त करने का अन्य कोई मार्ग नहीं है।[2] आत्मदर्शन के लिए आत्मज्ञान ही प्रकृष्ट और प्रथम साधन है, जिसके लिए योग आदि अध्यात्म-शास्त्र अत्यन्त सहायक हैं। अतः 'बीती ताहि बिसार के आगे की सुध ले' के अनुसार अपने-आपे के कल्याण के लिए अब तो अवश्य ही प्रयास प्रारम्भ कर देना चाहिए, फिर न जाने ऐसा अवसर कब मिले ! क्योंकि—

केवल विचारशील मानव ही नहीं, अपितु प्रत्येक प्राणी लम्बे-से-लम्बे जीवन की कामना ही नहीं करता, अपितु इसके साथ सदा जीने के लिए यथासम्भव हर प्रयास करता है। इसी का दूसरा नाम अमरता है, जिसकी प्राप्ति के लिए अनेकों की अनेक कथायें प्रसिद्ध हैं। एतदर्थ कई प्रकार के यज्ञों, मन्त्रजपों, सिद्धियों, तपों, योगों, ओषधियों की यत्र-तत्र चर्चा प्राप्त होती है। पर अविनाशी आत्मा को अपने कर्मों के अनुसार जो शरीर मिलता है, वह जहाँ नाशवान् है, वहाँ उसके कारण-रूपी कर्म भी सीमित हैं। फिर उन कर्मों का फल (आयु) असीमित कैसे हो सकता है !

जब प्रत्येक प्रयास करने पर भी जीने की इच्छा पूर्ण होती हुई दिखाई नहीं देती, तो व्यक्ति अपने-आपको अमर बनाने के लिए अनेक प्रकार के क्रिया-कलाप करता है। एतदर्थ विविध वस्तुओं का दान करता है, भवन बनवाता है, पुस्तकों में चर्चा लाने का प्रयास करता है; ऐसे भी लोग हैं जो पहाड़ों, पत्थरों, ऐतिहासिक शिलाओं, भवनों, वस्तुओं तथा स्मारकों पर भी अपना नाम खोदने की धृष्टता करते हैं, क्योंकि वे अपने नाम को अपना-आपा समझते हैं।

सदा न जी सकने की अपनी असमर्थता के कारण अपने प्रतिनिधि के रूप में अपने पुत्र-पौत्रों को विराजमान अनुभव करके व्यक्ति अपने-आपको ही उस रूप में जीता हुआ समझता है। अपने-आपे का ही दूसरा

---

१. अयन्तु परमो धर्मो यद् योगेन आत्मदर्शनम्।—याज्ञवल्क्यस्मृति १-८

२. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥=आदित्य समान प्रकाशमान, अन्धकार से रहित इस महान् पुरुष को मैंने जान लिया है। उसी को जानकर मृत्यु को पार किया जा सकता है, इसका अन्य कोई मार्ग नहीं।

नाम पुत्र है, क्योंकि जहाँ वह अपने वंश, धन, सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है, वहाँ उसके शरीर और विचार आदि के रूप में भी अपना अंश ही होता है। तभी तो कहा है—तू मेरे अंग-अंग और हृदय से प्रकट हुआ है।[1] इसी अपनेपन एवं आत्मीयता के कारण पुत्र की कामना वैसी ही स्वाभाविक है, जैसी कि जीने की अभिलाषा। क्योंकि उसके रूप में अपना रूप और उसके द्वारा अपने विचारों की पूर्ति होती है। तभी तो शतपथकार ने कहा है[2]—प्रत्येक स्वाभाविक रूप से यह चाहता है, कि मैं जीऊँ, मेरी सन्तान हो, धन-सम्पत्तिवाला बनूँ, क्योंकि इन इच्छाओं की पूर्ति से ही वह अपने जीवन को पूर्ण समझता है। सन्तान के माध्यम से आगे-से-आगे अधिक रूप में वह धार्मिक कृत्यों को करने में समर्थ होता है। उनके फलस्वरूप तथा पुत्रवान् होने से स्वर्ग को प्राप्त करता है।

इस प्रकार जीवन इच्छाओं का समूह तथा उनका मूर्तरूप है। जब कभी कोई व्यक्ति इच्छाओं को प्रकट करता है, तो वह कहता है—हे परम ऐश्वर्यवान् परमात्मन्! मुझे इन्द्रियों की शक्ति से पूर्ण करो अर्थात् मेरा शरीर स्वस्थ हो। हमारे पास धन-ऐश्वर्य हो, हमारी इच्छायें सत्य हों, पूर्ण हों।[3] व्यक्ति की सभी इच्छाओं में से जीने की इच्छा सबसे प्रबल है। उसी के कारण अन्य इच्छायें चरितार्थ होती हैं। जीने की चाहना का ही दूसरा नाम अमरता है। शरीर के मरण-धर्मा होने से अपने-आपे के न होने पर अपने नाम अथवा अपने प्रतिनिधि-रूप पुत्र-पौत्र के द्वारा इस अमरता की कुछ पूर्ति होती है।

---

१. अंगादंगात्संभवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मा वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम्॥ —शतपथ १४-९-४-२६

२. एषा वा आशीः, जीवेयम्, प्रजा मे स्याच्छ्रियं गच्छेयमिति, श्रीर्हि पशवः।
तदेताभ्यामेवैतदाशीर्भ्यां सर्वमाप्तम्—शत० १-८-१-३६; जीवन् हि पूर्वमिष्ट्वाथापरं यजते—१-८-१-३०(=जीवन्नरो भद्रशतानि पश्यति)। यस्य हि प्रजा भवत्यमुं लोकमात्मनैत्यथास्मिल्लोके प्रजा यजते—१-८-१-३१; यस्य प्रजा भवत्येक, आत्मना भवत्यथोत दशधा प्रजया हविष्क्रियते—१-८-१-३४।

३. अथ यत्राशिषमाशास्ते, तज्जपति—
मयीदमिन्द्र इन्द्रियं दधात्वस्मान् रायो मघवानः सचन्ताम्।
अस्माकं सन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिष इत्याशिषमाशास्ते॥
—शतपथ १-८-१-४२

अतः योग्य सन्तान का निर्माण और सत्कर्मों से यश की प्राप्ति में जहाँ किसी के जीवन की सार्थकता है, वहाँ यही उसकी अमरता है और यही किसी का सच्चा स्मारक है। अतः ऐसे अवसर पर जो व्यक्ति अपना या अपनों का कोई स्मारक बनाने का विचार रखते हैं, उनके लिए यह एक सन्तोष का आधार है और हर व्यक्ति की अमरता की चाह का एक सार्थक रूप है।

चौदहवीं बैठक

मंच पर विराजते ही महात्मा जी ने कहा—श्रोताओ ! आज हम इस प्रसंग की चर्चा अपनी संस्कृति और परम्परा के परिप्रेक्ष्य में करेंगे।

भारतीय संस्कृति और पितृस्मरण —

यह एक सर्वमान्य बात है कि संसार में भारतीय संस्कृति प्राचीन और उत्कृष्ट है।[1] स्वीकृति—स्वीकार, आकृति—आकार की तरह संस्कृति और संस्कार दोनों शब्द एक ही अर्थ वाले हैं। ये दोनों सम्पूर्वक कृ धातु से बनते हैं, जो कि पवित्रता, स्वच्छता, सफाई के अर्थ में प्रायः प्रयुक्त होते हैं। वस्त्रों का संस्कार कर दो, मकान का संस्कार करो, आदि वाक्यों में मुख्य रूप से स्वच्छता की प्रक्रिया के अर्थ में संस्कार शब्द अधिक चलता है। अतः किसी के दोष को हटाकर उसमें गुण भरने का नाम संस्कार है। इसीलिए आत्मा, मन, इन्द्रिय और शरीर के दोषों को हटाकर उनमें गुण, बल आदि भरने और प्रेरणा देनेवाले होने से ही गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक के कर्मकाण्ड को

---

१. सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा (यजु० ७-१४)। संस्कृत भाषा की 'दिव्य ज्योति' पत्रिका अक्टूबर, १९८२ में एक लेख प्रकाशित हुआ था कि लण्डन के केन्सिग्टन में 'तत्त्वज्ञान चर्चा मण्डल' पिछले बत्तीस वर्ष से चल रहा है। वहाँ के अंग्रेज सदस्यों ने एक लम्बे विचार-विनिमय से यह निश्चय किया कि संसार की सभी संस्कृतियों में से वैदिक संस्कृति सर्वश्रेष्ठ है। उस मण्डल के सभी सदस्य संस्कृत पढ़ते हैं। उनकी ओर से एक स्कूल चल रहा है, जिसकी कुछ श्रेणियों में संस्कृत पढ़ाई जाती हैं। ये सभी शाकाहारी हैं।

संस्कार शब्द से स्मरण किया जाता है।[1]

संस्कार शब्द एक अन्य अर्थ में भी अभिहित होता है। हमारे सामने जो वात या घटना घटित होती है, उसके पश्चात् उसका मन पर जो प्रभाव होता है, उसको भी संस्कार कहते हैं। जैसे कि एक वस्त्र में चमेली के फूल या फरनैल की गोलियाँ रखने के कुछ देर बाद वस्त्र पर जो एक विशेष गन्ध छा जाती है, उसे वासना या बासना कहते हैं। इसी अदृश्य सूक्ष्म प्रभाव का नाम संस्कार भी है। जैसे छोंक (संस्कार) से दाल पर एक स्पष्ट प्रभाव होता है और उससे दाल के गुण और स्वाद में भी अन्तर आ जाता है, ऐसे ही सत्संग, स्वाध्याय, धार्मिक माता-पिता के विचार एवं जीवन का मन पर एक अनोखा प्रभाव होता है। ये संस्कार जीव के साथ जन्म-जन्मान्तर तक भी जाते हैं। ठीक इसी प्रकार व्यक्ति पर उसकी अपनी संस्कृति (धार्मिक विचारधारा) का एक अदृश्य, सूक्ष्म प्रभाव होता है। अतः व्यक्ति के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन को अच्छा (सत्य, शिव, सुन्दर) बनाने की योजना ही संस्कृति है।

भारतीय संस्कृति[2] प्राचीन होने से जहाँ एक परखी हुई है, वहाँ इसमें जीवन का सर्वांगपूर्ण रूप भी दृष्टिगोचर होता है। इसमें जीवन के पारिवारिक, सामाजिक, शैक्षणिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि क्षेत्रों, विषयों को अलग-अलग रखकर जीवन को खण्ड-खण्ड रूप में नहीं लिया जाता, अपितु यहाँ रथ या मकान की तरह जीवन की सारी

---

१. मनु आदि स्मृतिग्रन्थों और गृह्यसूत्रों में संस्कारों के सम्वन्ध में विस्तृत वर्णन मिलता है। सामान्य लाभ की दृष्टि से ये शब्द विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च (२-२६) तथा 'ब्राह्मीयं क्रियते तनुः' (२-२८)=कि इन संस्कारों, व्रतों, यज्ञों से यह शरीर अध्यात्मसिद्धि=ब्रह्म-प्राप्ति के योग्य होता है। कुछ संस्कार शरीर से, तो कुछ मन, आत्मा की संशुद्धि से सम्वन्ध रखते हैं। इसीलिए महर्षि दयानन्द ने संस्कार-विधि के प्रारम्भ में कहा है—शरीरात्मविशुद्धये ॥३॥ संस्कारैस्संस्कृतं यद्यन्मेध्यमत्र तदुत्तमम् ॥४॥

शरीर को जलाना अन्तिम संस्कार (अन्त्येष्टि) होने से संस्कार शब्द आज जलाने अर्थ में भी चलता है।

२. संस्कृति और धर्म, इन दोनों शब्दों का मूल अभिप्राय एक ही है। धर्म शब्द कर्मकाण्ड में अधिक रूढ़ हो चुका है। धर्म की तरह जीवन को अच्छा वनानेवाली विचारधारा के लिए संस्कृति शब्द प्रचलित हो गया है।

जरूरतों को सामने रखा जाता है। जैसे मकान केवल फर्श, दीवार, छत का नाम नहीं, अपितु इन सबका साझा नाम है, ऐसे ही भारतीय संस्कृति में जीवन के सभी (पारिवारिक, शैक्षणिक, आर्थिक, राजनैतिक प्रभृति) पहलुओं की प्रगति, समृद्धि, संरक्षण की पूरी प्रक्रिया है।

इसीलिए ये सारे संस्कार, जीवन से जुड़ी हुई जरूरतों के एक-एक अंग का निर्देश करते हैं। गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन और जातकर्म जन्म की प्रवर्तमान प्रक्रिया के बोधक हैं, तो नामकरण व्यवहार में अपेक्षित वस्तुओं के नाम-निर्धारण की उपयोगिता को दर्शाता है। अन्नप्राशन खान-पान की सारी प्रक्रिया का प्रतिपादक है, तो मुण्डन बालों तथा शरीर की सँभाल का स्मरण कराता है। यज्ञोपवीत—जीवन में शिक्षा के महत्त्व, उपयोगिता का प्रदर्शक है। इस प्रारम्भिक परिचय से सिद्ध होता है कि जीवन में जिस जरूरत की जब भी अपेक्षा होती है, तभी उसपर जरूरत के हर पहलू को दर्शाने के लिए उस-उस संस्कार का विधान है। जैसे अन्नप्राशन के माध्यम से भोजन कितना, कब, कैसा लेना चाहिए ? यथासमय माता-पिता द्वारा इस-इस सारी प्रक्रिया को सिखाना ही संस्कार का मूल भाव है। जैसे कि एक रेलगाड़ी जब अपने निश्चित स्थल से चलती है, तो रास्ते में जो भी जंकशन आता है, तब वहाँ उसकी हर प्रकार से देखभाल की जाती है। ऐसे ही ये संस्कार जीवन-यान की सँभाल के विशेष स्थल सिद्ध होते हैं; जीवन से जुड़ी हुई हर जरूरत की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। अतः इन संस्कारों से भी जीवन का सर्वांगरूप सामने आता है।

भारतीय संस्कृति के इस सर्वांगपूर्ण रूप को सामने रखकर जब हम प्रस्तुत प्रकरण (पितृ स्मरण) की दृष्टि से विचार करते हैं, तो स्पष्ट होता है कि भारतीय संस्कृति के परिचय का मूल स्रोत वैदिक साहित्य ही है, अर्थात् हमारी संस्कृति व धर्म के सम्बन्ध में वेद और स्मृतियों में विशेष विचार किया गया।[1] इसीलिए इनको धर्मशास्त्र के नाम से

---

१. वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम् ॥१२-१२॥ तथा इसका समर्थन २-७ में है।

वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः—४-१४; श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्—रघुवंश २-२१; स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं स्मृतिः—१३; चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः—मीमांसा दर्शन १-१-१

पुकारा गया है।[1] इन शास्त्रों में संसार, हमारे जन्म और पारस्परिक सम्बन्धों की स्पष्ट चर्चा मिलती है।

न जाने इस संसार का चक्र कब से चल रहा है। संसार बनने (सृष्टि) और मिटने (प्रलय) को ब्राह्म दिन तथा रात का नाम देकर, इसकी विशेष अवधि बताई गई है।[2] यहाँ हमें न जाने कितनी बार किन-किन रूपों में आने का अवसर मिला है।[3] उन्हीं में से एक अवसर यह है, जिसमें हमें इस नर-तन के साथ अन्न-मूल-फूल-फल-वनस्पति-खनिज-धातुओं से भरी धरती, जल, वायु, सूर्य आदि सुविधायें प्राप्त हुई हैं। ये कितनी उपयोगी हैं, यह स्वतः हमारा ज़ीवन प्रतिदिन व्यक्त कर रहा है, क्योंकि इनके बिना जीवन की गाड़ी नहीं चलती। अतः इस जीवन में प्राप्य सुविधाओं के लिए हम कितनों के कृतज्ञ हैं, जिनकी कृपा का ही यह सारा प्रसाद है। तभी तो एक भक्त कह उठता है—हे जीवनदाता प्रभो! आपकी जीवनरूपी देन कितनी अनोखी है!

हमारा जीवन अपनी-अपनी वंश-परम्परा की एक कड़ी है। पिता-पुत्र-पौत्ररूप में यह परम्परा सदा प्रचलित रहती है। यह किसी की अमरता का एक रूप है, इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति में जीने की इच्छा की तरह पुत्र-चाहना भी स्वाभाविक है। तभी तो सन्तान के कारण माता-पिता की खुशियाँ साकार हो जाती हैं। तब उनकी हर क्रिया में उत्साह, प्रसन्नता समा जाती है। कारोबार का सारा फैलाव, कमाई, उसके लिए ही प्रत्येक द्विगुणित रूप में करता है, अन्यथा उदास-निराश होकर कारोबार से हाथ समेट लेता है। इसी का एक सुन्दर चित्रण राष्ट्र-भाषा हिन्दी के महान् लेखक श्री प्रेमचन्द ने 'सेवासदन' उपन्यास में मदनसिंह के माध्यम से किया है, जब सदन अपनी इच्छा से शान्ता से विवाह रचाकर अपना अलग झोंपड़ा गंगा के किनारे बसा लेता है।

पालन-पोषण के कारण किसी को पिता शब्द से पुकारा जाता है।

---

१. श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।—मनु० २-१०

२. मनु० १-६५—७४।

३. मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः।
नानायोनिसहस्राणि मयोषितानि यानि वै॥
आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः।
मातरो विविधा दृष्टाः पितरः सुहृदस्तथा॥—निरुक्त परि० २
बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥—गीता ४-५

पालन के अनेक रूप, अंग और साधन हैं, जैसे अन्न, वस्त्र, शिक्षा, चिकित्सा आदि। इनमें से जो भी व्यक्ति जिस किसी प्रकार से किसी के पालन में सहायक बनता है, वह उस अंश या भाव से पिता (पितृ) शब्द से पुकारा जाता है। इसीलिए मनुस्मृति और निरुक्त आदि में शिक्षा देने वालों को माता-पिता कहा है।[1] ऐसे ही राजा को भी अनेक शास्त्रों में पिता कहा है।[2]

अतः अपना पालन करनेवालों के प्रति पुत्रों, शिष्यों, प्रजाओं के कर्तव्य को ही पितृयज्ञ कहा गया है[3], जिसको नित्यप्रति करने का

---

१. य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ।
स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत् कदाचन॥—मनु० २-१४४

ऐसा ही भाव १४८, १५०, १५१, १५३, १६६, १७०, १७१ श्लोकों में दर्शाया गया है।

य आतृणत्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन्।
तं मन्येत पितरं मातरं च···—निरुक्त २-१-४

जनिता चोपनेता च यस्तु विद्यां प्रयच्छति।
अन्नदाता भयत्राता पञ्चैते पितरः स्मृताः॥६४॥ पंच० ४

२. प्रजानां विनयाधानाद् रक्षणाद् भरणादपि। स पिता···।—रघुवंश १-२४

'प्रजा को अपने सन्तान के सदृश सुख देवे और प्रजा अपने पिता-सदृश राजा और राजपुरुषों को जाने।'

—स्वा० वेदानन्द-सम्पादित सत्यार्थप्रकाश, समु० ६, पृ० १४२

राजा पुरुषप्रजा के लिए सुमाता और सुपिता के समान और प्रजापुरुष राजसम्बन्ध में सन्तान के सदृश वर्तकर परस्पर आनन्द बढ़ावें।

—व्यवहारभानु

३. मनुस्मृति में एक संसारी व्यक्ति के जीवन को सर्वांग-सुन्दर बनाने के लिए अनिवार्यरूपेण पंचमहायज्ञ बताए गये हैं। प्रथम ब्रह्म यज्ञ—जिसमें ईश्वर-भक्ति, वेदादि शास्त्रों का अध्ययन होता है। दूसरा देवयज्ञ—जिसका (मूल उद्देश्य व्यवहार्य वस्तुओं की शुद्धि के लिए) अग्निहोत्र से भाव है। तीसरा पितृयज्ञ और चौथा सामाजिक व्यवस्था के व्यवस्थापक, सहयोगी, धर्म-प्रचारकों की अतिथि (यज्ञ) के रूप में सेवा का बोधक है। पाँचवें बलिवैश्वदेवयज्ञ को सामयिक दृष्टि से पशुपालन के रूप में ले सकते हैं।

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥३-७०॥
देवतातिथिभृत्यानां पितृणामात्मनश्च यः।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति॥ ७२

विधान है। पितृ शब्द से पुकारे जाने वाले की तृप्ति और प्रसन्नता की भावना जीवित स्थिति में ही सम्भव, सरल और स्पष्ट है, जोकि उनकी सेवा और आज्ञापालन आदि से पूर्ण होती है।[1] मीमांसादर्शन की प्रक्रिया में अदृश्य फलादि की अपेक्षा दृश्य फलादि को अधिक महत्त्व दिया है। इससे भी जीवितों के सत्कार की भावना ही पुष्ट होती है, जोकि प्रत्यक्ष और व्यावहारिक है। अतः अपना पालन-पोषण करने-वालों को तृप्त और प्रसन्न करने के लिए नित्यप्रति जो कुछ भी किया जाता है, वही पितृयज्ञ है।[2]

इस सारे विवेचन का भाव यह है कि हम अपने जीवन में दूसरों से अनेक प्रकार से सहयोग प्राप्त करते हैं। अतः अपने पूर्वजों से प्राप्त सहयोग के कारण अपनी सन्तान के निर्माण में सहयोग देकर हम अपने पितृ-ऋण से कुछ अनृण होने का अवसर जहाँ प्राप्त करते हैं, वहाँ वंश-परम्परा के द्वारा अधूरे कार्य को पूर्ण करने में समर्थ हो सकते हैं। अतः अपने पूर्वजों के प्रति अपनी कृतज्ञता को चरितार्थ करने के लिए सन्तान को योग्य बनायें। उनको अपने ज्ञान व अनुभव के सार को ही दें, न कि व्यर्थ के पचड़ों में डालें; लकोर पीटने के लिए ही उनको प्रेरित न करें, अपितु विज्ञान-जगत् की तरह यथार्थ के द्वारा ही परम्परा को आगे बढ़ायें। यथार्थ को स्वयं सीखें और उन्हें भी सिखायें।

कृतज्ञता का एक सफल रूप यह भी है कि समझदार होने पर अपने सामाजिक सम्बन्धों को सद्भाव-सहानुभूति-सहयोग के साथ निभायें।[3] मतभेद की स्थिति में भी विरोध और शत्रुता को न पालें तथा जीवन

---

१. अभिवन्दनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशोबलम्॥मनु० २-१२१॥

अपना उपकार करनेवालों के उपकार को स्वीकार करके जो उनके प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करता है, वह विनीत उनसे गुण ग्रहण करके योग्य बनता है, अन्यथा इसके विपरीत व्यक्ति अहंकारवश वहीं-का-वहीं रह जाता है और तब—कृतघ्नस्य नास्ति निष्कृतिः।

२. कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा।
पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन्॥—मनु० ३-८२

३. सामाजिक जीवन में पारस्परिक सद्भाव-सहयोग से ही जीवन सरल और सुखी होता है। तभी तो कहा है—

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथः।—गीता ३-११

अन्यथा घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, विरोध से जीवन नरक बन जाता है।

की विषम परिस्थितियों में भी विवेक और धैर्य के साथ जीने की कला से अपने जीवन को निखारें।

पन्द्रहवीं बैठक

अपनों की याद—

अनेक महिलायें आश्रम की ओर जा रही हैं। जाते-जाते आपस में बातचीत शुरू हो जाती है, तो आभा साथ चलने वालियों से कहती है—इस कथा में बहुत ही आनन्द आता है, क्योंकि हर बात को बड़ी सरलता से समझाया जाता है। तभी प्रभा ने कहा—इससे भी अच्छी बात यह है कि महात्मा जी नारी को भी पुरुषों जैसा ही सम्मान देते हैं। कभी भी उनके प्रति कोई हल्की बात नहीं कहते। इतने में प्रतिभा बोली—महिलाओं के मान का इनको इतना ध्यान रहता है कि वैराग्य और अध्यात्म की चर्चा में भी दोनों को समान स्थान देते हैं और स्पष्ट शब्दों में कहते हैं, जहाँ तक आकर्षण एवं राग की बात है, वहाँ एक-दूसरे के लिए दोनों समान रूप से लगाव के आधार हैं। सुषमा ने बात को आगे बढ़ाते हुए कहा—इस कथा से पहले एक सत्संग में प्रसंगवश महात्मा जी ने कहा था—मानव-समाज के स्त्री और पुरुष दोनों ही समान अंग हैं। दोनों के पारस्परिक सद्भाव, सहानुभूति और सहयोग में जहाँ दोनों का कल्याण निहित है, वहाँ परिवार तथा समाज का विकास भी इसी पर निर्भर है। तभी शिक्षाप्रिया ने कहा—इसीलिए तो सर्वप्रिय जी का विचार है कि बालकों की तरह बालिकाओं को भी जीवन के विकास के लिए शिक्षा, धर्म आदि का समान अवसर देना चाहिए। मौका मिलते ही प्रियंवदा ने कहा—महात्मा जी दूसरों की तरह नारियों से न तो मत्था टिकवाते हैं और न ही पैरों को छुआते हैं, ताकि कहीं इससे नारियों का हल्कापन व्यक्त न हो। इतने में सम्मानप्रिया ने कहा—इसी लिए तो मैं हर कार्य छोड़कर केवल इन्हीं के सत्संगों में आती हूँ।

इस प्रकार चर्चा करते-करते सारी महिलायें आश्रम में पहुँचकर सत्संग-श्रवण के लिए बैठ गईं।

संगीतप्रिय जी की गीतिका के बाद सर्वप्रिय जी ने मंच पर बैठते हुए कहा—इस 'जन्म-मरण की उलझन' की विचार-चर्चा के अन्तिम दिन हमने पंजाब के विविध स्थानों से अनेक महिलाओं को आमन्त्रित

किया है। आज मेरे सामने वे सारी बैठी हैं; ढिलवाँ (कपूरथला), नौशहरा पुन्नुआँ (फरीदकोट), बलबेड़ा (पटियाला), छीना (गुरदासपुर), कृष्णनगर (अमृतसर), लुधियाना, मुक्तसर, नकोदर, खुड्डा (टाण्डा) आदि स्थानों पर हुए सामूहिक हत्याकाण्डों में जिनके पतियों, भाइयों या पिताओं को आतंकवादियों ने बसों से उतारकर या दुकानों पर कार्य करते हुए अन्धाधुन्ध गोलियाँ चलाकर शहीद बना दिया था। सत्संग से पूर्व इन्होंने उस-उस दिन की करुण कहानी सुनाई और कुछ से दिल्ली, कानपुर आदि की दर्दनाक दास्तान मालूम हुई, जिससे पता चलता है कि ईर्ष्या, घृणा एवं बदले की भावना से भरकर कोई कितना अविवेकी बन जाता है।[1] ये सारी अपनों की याद में आँसू बहाते नहीं थकतीं तथा इनमें से कुछ करुण क्रन्दन करते हुए कह रही थीं कि असल में हमारे दुर्भाग्य के कारण ही हमारे हमसे छिन गए हैं। न जाने हमारे किन पूर्वले दुष्कर्मों का फल अब हमें भोगना पड़ रहा है, तभी तो रो-रोकर, सबके सामने हमें अपनी अनाथता जचानी पड़ती है। अब तो दिल में एक ही रास्ता सूझता है, पर इन दुधमुँहे बच्चों के जीवन को देखते हुए न चाहने पर भी खून के घूँट पीने पड़ रहे हैं।

निःसन्देह पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्धों के कारण कई बार व्यक्ति जहाँ दूसरों से सुखों को प्राप्त करता है, वहाँ अनेक बार अपनों के बिछुड़ जाने पर अनेक तरह के दुःखों का भी भागी होता है। इसीलिए दो की जिम्मेवारी या अनेकों का उत्तरदायित्व किसी एक पर भी आ जाता है। ऐसी स्थिति में जो अपने कर्त्तव्य को जितनी निष्ठा, तत्परता, तपस्या, त्यागपूर्वक निभाते हैं, वे उतने ही मान के योग्य हैं, क्योंकि किसी के तप-त्यागरूपी साधुता से ही परिवार और समाज फूलता तथा फलता है।

ऐसी स्थिति में बिना बार-बार अपने-आपको कोसे सामयिक कर्त्तव्य के गौरव को सम्मुख रखते हुए आत्मसम्मान तथा विश्वास के साथ अपने इस उत्तरदायित्व को निभाना चाहिए।

हिंसा-प्रतिहिंसा की ये घटनायें तो बिल्कुल स्पष्ट हैं कि किसने क्या अपराध किया है? और यह केवल अपराध ही नहीं, अपितु संकीर्णतावशात् इसको षड्यन्त्र का रूप भी दिया गया है। ऐसी स्थिति में अपने की मृत्यु पर, विशेषतः महिलाओं को अपने-आपको कोसना नहीं चाहिए

---

१. ईर्ष्या हि विवेक-परिपन्थिनी=दूसरे से जलने की भावना सही सोच को छीन लेती है।

और न ही दुर्भाग्यशाली मानना चाहिए। ऐसी मौतें किसी के पूर्व-कर्मों का परिणाम नहीं कही जा सकतीं। जब अपना इसमें कोई अपराध नहीं है तो फिर कोसना और पछतावा क्यों? और इन हत्याओं का तो कारण स्पष्ट है। जहाँ सोचने पर भी किसी कार्य का कारण स्पष्ट न हो, उसी बात को पूर्व-कर्मों के आधार पर माना जा सकता है।[1]

इस प्रसंग में जहाँ केवल नारीपन के कारण अपने-आपको कोसने या हल्का समझने की बात है, वहाँ सारे सामाजिक जीवन के सभी पक्षों की दृष्टि से यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि नारीवर्ग भी मानव-समाज का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। ये दोनों एक-दूसरे के पूरक, सहयोगी हैं, प्रतिस्पर्धी नहीं। इन दोनों के पारस्परिक सद्भाव, विश्वास, सहयोग से ही परिवार और समाज पल्लवित, पुष्पित एवं फलित होते हैं। यह सद्भाव-सहयोग कहीं भाई-बहन के रूप में होता है तो कहीं पति-पत्नी के रूप में, कहीं पिता-पुत्री के रूप में तो कहीं माता-पुत्र के रूप में। नारी होनेमात्र से कोई हल्का, नीचा या अपूज्य और अपराधी नहीं। वैसे तो किसी की योग्यता, कर्मण्यता से ही उसके मान एवं स्थान का आकलन करना चाहिए। निःसन्देह नारी-शरीर में कुछ स्वाभाविक भिन्नता है, पर विद्या और विज्ञान के विकास के इतिहास ने यह स्पष्ट कर दिया है कि नारी भी विविध क्षेत्रों में सिरमौर हो सकती है।

भारत में ही नहीं, सारे संसार में जिस किसी रूप में जहाँ कहीं नारी के प्रति अनादर की भावना है, वहीं उसके कारण अनेक प्रकार की अन्याय और शोषण की समस्यायें हैं जैसे भारत में दहेज-प्रथा, अपहरण, बलात्कार आदि का घृणित रूप सामने आता रहता है। इसके निवारण के लिए सर्वप्रथम नारी के मन में आत्मसम्मान और विश्वास का भाव उभरना चाहिए।[2] तभी समस्या का समाधान सरल हो सकता है। यदि नारी, नारी के प्रति सम्मानित व्यवहार करे, तो आधी समस्या स्वतः हल हो जाती है।

---

१. असंकल्पितमेवेह यदकस्मात् प्रवर्तते।
निवर्त्यारम्भमारब्धं ननु दैवस्य कर्म तत्॥

—रामायण, अयोध्या काण्ड, २२-२४

आरम्भ किए गए कार्य को रोककर बिना संकल्प के अनायास ही जो कार्य हो जाता है, निश्चय ही वह दैव का कार्य है।

२. उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥—गीता ६-७

सभी श्रोताओं पर दृष्टि डालते हुए सर्वप्रिय जी ने बड़ी गम्भीरता से कहा—यह सब-कुछ तो आमन्त्रित महिलाओं की दृष्टि से कहा है। अत: उनसे निवेदन है कि वे इन कही गई भावनाओं को ध्यान में रखते हुए परिवार के इस नए उत्तरदायित्व को आत्मसम्मान के साथ निभायें, जिससे अपनों की याद सही अर्थों में स्थायी वन सके और इसके लिए कम-से-कम एक मास में एक बार चौथी बैठक की महिला की कथा पढ़ें। अपनों की याद को स्थायी बनाने का ही दूसरा नाम 'मान्यों का मान' या 'पूर्वजों के स्मारक' हैं।

मनुष्य एक परस्परापेक्षी सामाजिक प्राणी है। वह समाज से ही जीवन तथा विकास के साधन प्राप्त करता है। यदि समाज की प्रथम इकाई परिवार का किसी को सहयोग प्राप्त न हो, तो व्यक्ति का जीवन सर्वथा ही दूभर हो जाए, उसके पल्लवित, पुष्पित तथा फलित होने की बात तो दूर रही। समाज में सबसे अधिक सहयोग व्यक्ति को माता-पिता आदि सम्बन्धियों तथा शिक्षकवर्ग एवं मित्रों से प्राप्त होता है। तभी तो शतपथकार की भावना को दर्शाते हुए सत्यार्थप्रकाश में लिखा है—'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद' अर्थात् जिसको उत्तम माता-पिता और अध्यापक प्राप्त होते हैं, वही पूर्ण पुरुष बनने में समर्थ होता है। अतएव प्रत्येक सर्वदा यही चाहता है कि इनकी छाया (कृपा-दृष्टि) सदा इसी प्रकार बनी रहे, जिससे वह अपना विकास करने के लिए इनसे पूर्ण सहयोग प्राप्त कर सके। परन्तु प्रकृति के नियमानुसार ईश्वरीय व्यवस्था से अथवा अपनी या दूसरों की गलतियों, नासमझियों, अत्याचारों और अन्यायों से न चाहते हुए भी व्यक्ति को काल का ग्रास बनना पड़ता है, जिसके कारण कइयों को पारस्परिक सम्बन्ध, प्रेम और सहयोग से वंचित होना पड़ता है तथा वियोग का असह्य दारुण दु:ख सहना पड़ता है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के विकास को देखकर अपना सिर अनेक बार उन पूजनीयों के चरणों में झुकाता है, जिनकी कृपा से हर प्रकार की सुविधा तथा उन्नति का अमरदीप (ज्ञान) प्राप्त होता है। वह बार-बार अनुभव करता है कि यदि उसको पूज्यों का वरदान प्राप्त न होता, तो शायद उसका संसार में अस्तित्व ही न होता। दूसरों के जीवनों को देखकर या अपने अतीत को स्मरण कर हमें रह-रहकर वह घड़ी स्मरण आती है, जब हमारा जीवन भी अज्ञानता के गहरे अँधेरे में बहा जा रहा था, तब किसी पूज्य ने प्रकाश देकर या जीवन-नौका की पतवार बनकर जीवन को सत्यपथ दर्शाया था। ऐसे पूज्यों की स्मरणीय भावना

को उपयोगी रूप में प्रतिष्ठित करना ही मान्यों का मान या अपनों की याद को स्थायी बनाना है।

किसी के जीवन में महत्त्वपूर्ण योगदान देनेवाले मान्यजन अनेक प्रकार के होते हैं। किसी से किसी प्रकार का सहयोग प्राप्त होता है, तो किसी से किसी प्रकार का। मान्यों की महिमा के कारण को ध्यान में रखकर मनुस्मृतिकार ने मुख्य रूप से पाँच भेद गिनाये हैं, यथा—जिनसे किसी को धन का सहयोग, किसी से रिश्ते का सम्बन्ध, जो दूसरों की अपेक्षा अधिक आयु वाले होते हैं, जो भलाई के शुभ कर्म करते हैं तथा विद्या जैसे वरदान को देते हैं,[1] वे अन्यों के लिए उत्तरोत्तर मान के पात्र होते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति अपने प्रति किये गए उपकारों को स्मरण कर अपनी कृतज्ञता को प्रकट करने के लिए किसी-न-किसी रूप में अपने पूर्वजों के स्मारक को मूर्त रूप देने का यथाशक्ति पूर्ण प्रयास करता है, जिससे अपनों की याद स्थायी बनी रहे और वह अन्यों के लिए प्रेरणा तथा पथ-प्रदर्शन का कारण बन सके। प्रायः संसार में सभी प्रकार के विचार-वालों में अपनी कृतज्ञता को प्रकट करने के लिए स्मारकों के कई रूप प्रचलित हैं। कुछ अपनों की स्मृति में विविध स्थानों पर मन्दिर, धर्मशाला, स्कूल आदि भवनों और कुओं का निर्माण करवाते हैं, तो कुछ स्मारक ग्रन्थमाला के रूप में पुस्तकों का प्रकाशन करते हैं। कई ब्राह्मणों, दीनों, धर्म-संस्थाओं को अन्न, धन, वस्त्र आदि का दान देते हैं, तो कई निर्धन या योग्य छात्रों को छात्रवृत्ति देते हैं। मृतक श्राद्ध के प्रचलन के अनेक कारणों में से एक कारण यह भावना भी है। इसी भावना के परिणामस्वरूप आज अनेक परोपकार के कार्य दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

सामाजिक उपयोग और लाभ की दृष्टि से सबका अपना-अपना महत्त्व है। यदि तुलनात्मक विचार किया जाए तो स्मारकों के रूप में ज्ञान-प्रसारक कार्यों की योजना अधिक उपयुक्त है। तभी तो मनुस्मृतिकार ने कहा है[2]—संसार में सब प्रकार के दानों में से विद्या या विद्या-सम्बन्धी वस्तुओं के दान का विशेष महत्त्व है, क्योंकि विद्या द्वारा ही

---

१. वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पंचमी।
एतानि मान्य स्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥२-१३६॥
सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते।—नीति० ४१
किं किन्न साधयति कल्पलतेव विद्या।

२. सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।४-२३३

दान देने योग्य अन्य वस्तुओं की प्राप्ति होती है। विद्या ही इनके उत्पादन, वितरण और प्रयोग का मूल है। विद्या का दान ऐसा है जैसे किसी को नेत्र-दान देना, जो कि शरीर के अन्य अंगों से मूल्यवान् और उपयोगी है। इसीलिए ही कहा जाता है—'आँखें बड़ी निआमत हैं, आँख हैं तो जहान है' तथा शास्त्रकार विद्या की आँख से उपमा देते हैं[1] अर्थात् ज्ञान को आँख माना गया है और वह जिसके पास नहीं होती, वह अन्धे की तरह भयभीत, असमर्थ होकर ठोकरें खाता है और न ही अपनी पूर्ण प्रगति करने में समर्थ होता है। वस्तुतः विद्या वही है, जिससे मुक्ति प्राप्त होती है अर्थात् दुःखों, क्लेशों, कष्टों, बन्धनों से छुटकारा विद्या द्वारा ही मिलता है,[2] क्योंकि इनके अनभीष्ट होने के कारण व्यक्ति इनसे बचना चाहता है। इस परिभाषा के अनुसार विद्या का भाव यहाँ विशेष रूप से अध्यात्म-ज्ञान है, जैसा कि जीवन ज्योति (१३) प्रकरणों में दर्शाया गया है।

संसार के विविध क्षेत्रों में जितनी भी आज प्रगति हुई है, उस प्रगति का सबसे अधिक श्रेय ज्ञान (विद्या, शास्त्र, सत्साहित्य) को ही दिया जा सकता है। विद्या ही सब विकासों की जड़ है। अन्य पदार्थों की अपेक्षा विद्या सबसे अधिक चिरस्थायी, महत्त्वपूर्ण और उपयोगी है। इसीलिए भारतीय साहित्य और समाज में विद्यादान के कारण ही गुरु तथा ब्राह्मण को प्रतिष्ठित स्थान दिया गया है। जिन व्यक्तियों, वर्गों, राष्ट्रों के पास विद्या जैसी अनमोल निधि है, वे ही सबसे अधिक विकसित, समृद्ध, सुखी, सभ्य और अमर बने हैं। किसी की अमरता का रहस्य उसके साहित्य में ही छिपा हुआ है। इसीलिए बड़े सम्मान से गाया जाता है—

सारे जहाँ से अच्छा, हिन्दोस्ताँ हमारा,
हम बुलबुलें हैं उसकी, वो गुलिस्ताँ हमारा।
यूनान मिस्र रोमाँ सब मिट गए जहाँ से,
अब तक मगर है बाकी नामो-निशाँ हमारा।
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी,
सदियों रहा है दुश्मन दौरे-ज़माँ हमारा।

जबकि मिस्र आदि सभी देशों में उन-उनके वंशज विद्यमान हैं, तब इन शब्दों का क्या भाव ? ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती कि उन

---

१. सर्वस्य लोचनं शास्त्रम् यस्य नास्त्यन्ध एव सः ।—हितोपदेश प्रस्तावना १०
२. विद्या हि का ? मुक्तिप्रदा या ।

देशों के वासियों का किसी कारण से एक-साथ नाश हो गया हो। यह इतिहास और वास्तविकता से विपरीत है। विचार करने पर इसका यही रहस्य अवगत होता है कि यह तो ठीक है कि भारतीयों की तरह उनकी नसों में भी अपने पूर्वजों का खून दौड़ रहा है, परन्तु पूर्वजों की भावनायें, विचार और साहित्य उनके पास न होने से वे अपने पूर्वजों से दूर हो गए हैं। हाँ, भारतीयों के पास आज भी अपने पूर्वजों की पवित्र धरोहर, विचारधारा, भारतीय साहित्य के रूप में सुरक्षित और विकसित है। किसी व्यक्ति या वर्ग को अमर बनानेवाला, अपने पूर्वजों से सीधा सम्पर्क स्थापित करानेवाला साधन केवल और केवल साहित्य ही है।[1] अतः अपने पूर्वजों का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्मारक साहित्य का प्रकाशन ही है। पूर्वजों से सम्बन्धित और उनका प्रियतम साहित्य संस्कृत भाषा का ही है। अतः ऐसे साहित्य के तथा अमर भावना-भरे ग्रन्थों के प्रकाशन में सहयोग देना, अपनों की याद को स्थायी बनाने का एक अच्छा स्मारक कहा जा सकता है।

विद्यादान के विविध प्रकारों में से साहित्य का प्रकाशन जहाँ पूर्वजों से जुड़ा हुआ है, वहाँ उनका प्रियतम साहित्य होने से विशेष महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि छात्रवृत्ति ग्रहण करनेवाला छात्र कौन जाने भावी जीवन में स्मरणीय की भावना के अनुकूल रहे या न रहे! विद्यालय का उद्देश्य पूर्वजों की भावना के प्रतिकूल भी हो सकता है। हाँ, पढ़ने की प्रवृत्ति, भावना और शिक्षा का मूल स्रोत होने से विद्यालय तथा उसको किसी रूप में सहयोग देनेवाले सर्वथा प्रशंसनीय हैं। पुनरपि स्मरणीय की भावना के अनुसार प्रकाशित साहित्य विशेष महत्त्वशाली होने से किसी का उपयुक्त स्मारक हो सकता है।

पूर्वजों के स्मारक को विद्या के प्रसार का रूप देना एक अन्य दृष्टिकोण से भी विशेष है। प्रायः ऐसी मान्यता है कि इस जीवन में जिस पदार्थ का दान करोगे, अग्रिम जन्म में उसी की प्राप्ति होगी। दान दिए गए अन्य सभी पदार्थों की प्राप्ति अन्य योनियों में भी जन्म लेकर की जा सकती है। परन्तु विद्या या विद्या-सम्बन्धी दान एक ऐसा दान है, जिसको केवल मनुष्य-योनि में ही प्राप्त किया जा सकता है। कर्म-सिद्धांत की विशेष मीमांसा में न जाकर 'जो बोओगे सो काटोगे' के अनुसार[2] विचार करें, तो मानव-चोला-प्राप्ति के लिए भी विद्यादान

---

१. स्वाध्यायेनार्चयेत् ऋषीन्।—मनु० ३-८१

२. पक्तारं पक्वः पुनराविशाति।—अथर्व० १२-३-३८

सर्वोत्तम है। अतः जो अपनों की याद को स्थायी बनाना चाहते हैं, उनके लिए पारस्परिक सम्बन्धों को सुन्दर बनानेवाले साहित्य का प्रकाशन उत्तम, सरल तथा लाभप्रद कार्य है।

अन्त में महात्मा जी ने कहा—आमन्त्रित महिलाएँ अपने इस नए उत्तरदायित्व को सरलता से निभा सकें, यही हम सबकी प्रार्थना है। अब यह चर्चा इसी के साथ पर्ण होती है।

□□□

महामुनि कृष्णद्वैपायन व्यासजी प्रणीत

महाभारतम्

महाभारत धर्म का विश्वकोश है। व्यासजी महाराज की घोषणा है कि जो कुछ यहाँ है, वही अन्यत्र है, जो यहाँ नहीं है वह कहीं नहीं है। इसकी महत्ता और गुरुता के कारण इसे पञ्चम वेद कहा जाता है।

वेद को छोड़कर सभी वैदिक ग्रन्थों में प्रक्षेप हुए हैं। महाभारत भी इस प्रक्षेप से बच नहीं सका। महाभारत की श्लोक-संख्या बढ़कर एक लाख तक पहुँच गई। इसमें असम्भव गप्पों, अश्लील कथाओं, विचित्र उत्पत्तियों, अप्रासाङ्गिक कथाओं को ठूँसा गया। इतने बड़े ग्रन्थ को पढ़ना कठिन हो गया।

आर्यजगत् के ही नहीं भारत के प्रसिद्ध विद्वान्

स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

ने महाभारत का एक विशिष्ट संस्करण तैयार किया है।

इस ग्रन्थ से असम्भव, अश्लील और अप्रासांगिक कथाओं को निकाल दिया गया है। लगभग १६,००० श्लोकों में सम्पूर्ण महाभारत पूर्ण हुआ है। श्लोकों का तारतम्य इस प्रकार मिलाया गया है कि कथा का सम्बन्ध निरन्तर बना रहता है।

☐ यदि आप अपने प्राचीन गौरवमय इतिहास की, संस्कृति और सभ्यता की, ज्ञान-विज्ञान की, आचार-व्यवहार की गौरवमयी झाँकी देखना चाहते हैं,

☐ यदि योगिराज कृष्ण की नीतिमत्ता देखना चाहते हैं,

☐ यदि प्राचीन समय की राज्य-व्यवस्था की झलक देखना चाहते हैं,

☐ यदि आप जानना चाहते हैं कि क्या कौरवों का जन्म घड़ों में से हुआ था? क्या द्रौपदी का चीर खींचा गया था, क्या एकलव्य का अँगूठा काटा गया था, क्या युद्ध के समय अभिमन्यु की अवस्था सोलह वर्ष की थी, क्या कर्ण सूतपुत्र था, क्या जयद्रथ को धोखे से मारा गया आदि

☐ यदि आप भ्रातृप्रेम, नारी का आदर्श, सदाचार, धर्म का स्वरूप, गृहस्थ का आदर्श, मोक्ष का स्वरूप, वर्ण और आश्रमों के धर्म, प्राचीन राज्य का स्वरूप आदि के सम्बन्ध में जानना चाहते हैं, तो एक बार इस ग्रन्थ को पढ़ जाइए।

विस्तृत भूमिका, विषय-सूची, श्लोक-सूची आदि से युक्त इस महान् ग्रन्थ का मूल्य है केवल ६०० रुपये।

गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली-६

फरवरी १९९१

प्राचीन भारत के वैज्ञानिक कर्णधार

लेखक—श्री स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

स्वामीजी की अँग्रेजी पुस्तक 'Founders of Sciences in Ancient India' का सारे विश्व में स्वागत हुआ है और उसके कई संस्करण हो चुके हैं। यह हिन्दी संस्करण अब पुनः छपा है। इसमें निम्न विषय सम्मिलित हैं :

१. अथर्वन् : अग्नि के पहले आविष्कारक
२. अग्नि के द्वारा यन्त्र-साधनों का आविष्कार
३. दीर्घतमस् : वैदिक संवत् के आविष्कर्ता
४. गार्ग्य द्वारा नक्षत्रों का पहली बार संख्यान
५. भरद्वाज द्वारा प्रथम वनस्पति-गोष्ठी का सभापतित्व
६. आत्रेय पुनर्वसु और उनकी चिकित्सापीठ
७. सुश्रुत : शल्य-चिकित्सा के पिता
८. कणाद : यथार्थवाद, कारणवाद और परमाणु सिद्धान्त के पहले प्रतिपादक
९. मेधातिथि : अंकों को पहले-पहल परार्ध तक पहुँचाने वाले
१०. आर्यभट्ट द्वारा बीजगणित का शिलारोपण
११. लगध : ज्योतिष को युक्तिसंगत करने वाले प्रथम ऋषि
१२. लाटदेव और श्रीषेण द्वारा भारत में ग्रीक ज्योतिष का सूत्रपात
१३. बौधायन : सबसे पहला महान् ज्यामितिज्ञ

यह महान् ग्रन्थ 'वेदप्रकाश साइज' में छपकर तैयार, बढ़िया कागज, आफसैट की छपाई, कपड़े की पक्की जिल्द, मूल्य ३२५-०० ।

षड्दर्शनम्

स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

इस ग्रन्थ में छहों भारतीय दर्शनों को एक ही जिल्द में मूल सूत्र तथा हिन्दी अनुवाद सहित संकलित कर दिया गया है। अन्त में सूत्रों की अकारादिक्रम से अनुक्रमणिका इसकी एक अतिरिक्त विशेषता है।

भारतीय दर्शनों की विशेषताओं में उनका व्यावहारिक पक्ष, आशावाद, नैतिक व्यवस्था में विश्वास, कर्मसिद्धान्त, तथा मोक्षमार्ग का निर्देश आदि प्रमुख विशेषताएँ हैं।

मूल्य १००-००

गोविन्दराम हासानन्द, ४४०८ नई सड़क, दिल्ली-११०००६

हमारे प्रकाशन

महात्मा आनन्द स्वामी

मानव और मानवता	२५.००
तत्वज्ञान	२०.००
प्रभु-मिलन की राह	२०.००
घोर घने जंगल में	२०.००
प्रभु-दर्शन	१५.००
दो रास्ते	१५.००
यह धन किसका है	१५.००
उपनिषदों का सन्देश	१५.००
बोध-कथाएं	१५.००
दुनिया में रहना किस तरह	१०.००
मानव-जीवन-गाथा	१०.००
प्रभु-भक्ति	८.००
महामन्त्र	७.५०
एक ही रास्ता	८.००
भक्त और भगवान	८.००
आनन्द गायत्री कथा	७.००
शंकर और दयानन्द	५.००
सुखी गृहस्थ	४.००
सत्यनारायण कथा	४.००
Anand Gayatri Discourses	10.00
The Only Way	12.00
महात्मा आनन्द स्वामी जीवनी उर्दू (रणवीर)	१०.००
महात्मा आनन्द स्वामी (हिन्दी)	२५.००

प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

सत्य की खोज	५०.००
ब्रह्मचर्य सन्देश	२५.००

महर्षि दयानन्द सरस्वती

पंचमहायज्ञविधि	३.००
व्यवहार भानु	२.५०
आर्योद्देश्यरत्नमाला	०.७५
स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश	०.७५

डॉ० रामनाथ वेदालंकार

वैदिक मधुवृष्टि	६०.००

आ० प्रियव्रत वेदवाचस्पति

वेदोद्यान के चुने हुए फूल	५०.००

डॉ० भवानीलाल भारतीय

श्रीकृष्ण चरित	५०.००
श्यामजी कृष्ण वर्मा	२४.००
आर्यसमाज विषयक साहित्य परिचय	२५.००

स्वामी विद्यानन्द सरस्वती

सृष्टि विज्ञान और विकासवाद	४०.००
वेद-मीमांसा	५०.००
मैं ब्रह्म हूँ	४.००
आर्यों का आदिदेश और उनकी सभ्यता	५०.००

स्वामी जगदीश्वरानन्द

महाभारतम् (तीन खण्ड)	६००.००
वाल्मीकि रामायण	१००.००
षड्दर्शनम्	१००.००
चाणक्यनीति दर्पण	५०.००
भर्तृहरिशतकम्	१५.००
विदुर नीति	२०.००
प्रार्थना लोक	२५.००
प्रभात वन्दन	४.००
ब्रह्मचर्य गौरव	८.००
विद्यार्थियों की दिनचर्या	८.००
मर्यादा पुरुषोत्तम राम	प्रेस में
दिव्य दयानन्द	८.००
कुछ करो कुछ बनो	१०.००
आदर्श परिवार	१२.००
वैदिक उदात्त भावनाएँ	१०.००
वेद सौरभ	१२.००
दयानन्द सूक्ति और सुभाषित	२५.००
वैदिक विवाह पद्धति	६.००
ऋग्वेद सूक्तिसुधा	२५.००
यजुर्वेद सूक्ति सुधा	१२.००
अथर्ववेद सूक्ति सुधा	१५.००
सामवेद सूक्ति सुधा	१२.००
ऋग्वेद शतकम्	६.००
यजुर्वेद शतकम्	६.००
सामवेद शतकम्	६.००
अथर्ववेद शतकम्	६.००
भक्ति संगीत शतकम्	५.००

स्वामी श्रद्धानन्द

कल्याण मार्ग का पथिक ६०.००
स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली
(ग्यारह खंड) ६६०.००

Swami Satya Prakash Sarasvati

प्राचीन भारत में रसायन का विकास
३६५.००
प्राचीन भारत के वैज्ञानिक कर्णधार
३२५.००
Founders of Sciences in Ancient India
Two Volumes 500.00
Coinage in Ancient India
Two Volumes 600.00
Critical Study of Brahmagupta and his works 350.00
Geometry in Ancient India 350.00
God and His Divine Love 5.00
The Critical and Cultural Study of Satapath Brahman 700.00
Speeches, Writings & Addresses 4 Vol. 600.00

पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय

शतपथ ब्राह्मण (तीन खण्ड) १८००.००
जीवात्मा २५.००
मुक्ति से पुनरावृत्ति ३.००

प्रा० राजेन्द्र जिज्ञासु सम्पादित

महात्मा हंसराज ग्रन्थावली (४ खंड)
२४०.००
महात्मा हंसराज जीवनी ६०.००

पं० चन्द्रभानु सिद्धान्तभूषण

महाभारत सूक्तिसुधा ४०.००

स्वामी वेदानन्द सरस्वती

ऋषि बोध कथा १०.००

सुरेशचन्द्र वेदालंकार

महकते फूल १०.००
ईश्वर का स्वरूप १५.००

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

दयानन्द प्रकाश ३५.००

पं० मदनमोहन विद्यासागर

ईश्वर प्रत्यक्ष ९.००

ओम्प्रकाश त्यागी

वैदिक धर्म का संक्षिप्त परिचय ६.००

प्रो० नित्यानन्द पटेल

पूर्व और पश्चिम ३५.००
संध्या विनय ६.००
आत्म विकास की राहें ५०.००

पं० नरेन्द्र

हैदराबाद के आर्यों की
साधना व संघर्ष १०.००

प्रो० रामविचार एम० ए०

आर्यसमाज का कायाकल्प कैसे हो ४.००
वेद सन्देश ३०.००

प्रो० ओम्प्रकाश वेदालंकार

वैदिक पंचायतन पूजा ३५.००

प्रा० विष्णुदयाल (मॉरीशस)

महर्षि का सच्चा स्वरूप ४.००

म० नारायण स्वामी

प्राणायाम विधि २.००

गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली-६

प्रकाशक-मुद्रक विजयकुमार ने सम्पादित कर अजय प्रिंटर्स, दिल्ली-३२ में मुद्रित करा वेदप्रकाश कार्यालय, ४४०८ नयी सड़क दिल्ली से प्रसारित किया।